"अमृतवाग्भवाचार्य का जीवन एवं कृतियां—एक अध्ययन"

A STUDY OF LIFE AND WORKS OF AMRITVAGBHAVACHARYA

जम्मू विश्वविद्यालय की पी० एच० डी०

उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ० जगीर सिंह
प्राध्यापक स्नातकोत्तर
संस्कृत-विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू ।

अनुसन्धात्री :

अनीता बेदी
एम.ए. एम.फिल.

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

1998

IV

External Examiners

1. Prof. Dr Man Singh, K.U., Kurukshetra.
2. " " Pushpender Kumar, D.U., Delhi.
3. " " Dhanraj Sharma, P.U., Chandigarh

Internal Examiner

Dr Jagir Singh, J.U., Jammu.

"अमृतवाग्भवाचार्य का जीवन एवं कृतियां—एक अध्ययन"

A STUDY OF LIFE AND WORKS OF AMRITVAGBHAVACHARYA

जम्मू विश्वविद्यालय को पी० एच० डी०

उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धात्री :

अनीता बेदी

एम.ए. एम.फिल.

निर्देशक :

डॉ० जगीर सिंह

प्राध्यापक स्नातकोत्तर

संस्कृत-विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू ।

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

1998

Forwarded

Mahesh Sharma

Head
Post Graduate Department of Sanskrit
Jammu University

3/5/98

CERTIFICATE

This is to cetify that Miss **Anita Bedi** a candidate for the 'Doctor of Philosophy' degree worked under my guidance and supervision for her thesis entitled ("**A study of life and works of Amritvagbhavacharya**")

This is further to state :-

1. that the thesis embodies the work of the candidate herself;
2. that the candidate worked under me for the period required under statutes;
3. that she has put in required attendance, and seminars in this department during the period; and
4. that the conduct of the candidate remained satisfactory during the period of her research work.

Jagir Singh

Dated : 31-3-98

(Dr. Jagir Singh)
Senior Lecturer
P.G. Department of Sanskrit,
University of Jammu, Jammu.

विषयानुक्रमणिका

श्री देव्याः स्तोत्रम्, परशिवप्रार्थना।

(आ) धर्मशास्त्रीय, राष्ट्रवादीय, काव्यपरक एवं विविध रचनायें

(क) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

पवननन्दनाष्टकम् (मारुतिस्तोत्रम्), बालकमांपाहि, महागुरू श्री कृष्ण स्तोत्र, पराशिवाष्टकम्, बालकृष्ण दशाकम्, सप्तपदीहृदयम्, रामाश्वधाटीस्तवः, "प्रभोशम्भो" प्रार्थना, अवधूता—भिवादनम्, आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्, स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम।

(ख) राष्ट्रवादीय ग्रन्थ

श्री राष्ट्रालोकः, संक्रान्ति पञ्चदशी

(ग) काव्यपरक ग्रन्थ

अमृतसूक्तिपंचाशिका, संजीवनी दर्शनम्, देशिक दर्शनम्।

(घ) विविध रचनायें

पिकप्रत्युक्ति, बालाम्बास्तवः, श्रीकृष्ण गीतदशाकम्, वरकलवंशवृत्तम्, चारूसन्देश, कृतघ्नमित्रं प्रतिपत्रम्, सुक्ति लहरी, सिद्धमानवदर्शनम्, वैद्यान्प्रति, असम्पादित श्लोक संग्रह, आत्म परिचय।

श्री देव्याः स्तोत्रम्, परशिवप्रार्थना।

(आ) धर्मशास्त्रीय, राष्ट्रवादीय, काव्यपरक एवं विविध रचनायें

(क) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

पवननन्दनाष्टकम् (मारुतिस्तोत्रम्), बालकमांपाहि, महागुरू श्री कृष्ण स्तोत्र, पराशिवाष्टकम्, बालकृष्ण दशकम्, सप्तपदीहृदयम्, रामाश्वधाटीस्तवः, "प्रभोशम्भो" प्रार्थना, अवधूता—भिवादनम्, आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्, स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम।

(ख) राष्ट्रवादीय ग्रन्थ

श्री राष्ट्रालोकः, संक्रान्ति पञ्चदशी

(ग) काव्यपरक ग्रन्थ

अमृतसूक्तिपंचाशिका, संजीवनी दर्शनम्, देशिक दर्शनम्।

(घ) विविध रचनायें

पिकप्रत्युक्ति, बालाम्बास्तवः, श्रीकृष्ण—गीतदशाकम्, वरकलवंशवृत्तम्, चारूसन्देश, कृतघ्नमित्रं प्रतिपत्रम्, सुक्ति लहरी, सिद्धमानवदर्शनम्, वैद्यान्प्रति, असम्पादित श्लोक संग्रह, आत्म परिचय।

तृतीय अध्याय	:-	आचार्य की कृतियों में प्रतिपाद्य विषय	23 - 167

दर्शन विषयक

परमशिव, छत्तीस तत्त्व, जगत्, महाविद्या, पूर्णकर्तृत्व (पूर्णस्वातन्त्र्य), मल, जीव, प्रमाण, बन्ध-मोक्ष, उपाय।

धर्म विषयक

विवाह, तीर्थ, देव शरीर वर्णन, पूजा एवं स्तुति, गुरूतत्त्व, नीति।

राजनीति विषयक

अनुबन्धचतुष्ट्य, राष्ट्र की शक्तियाँ, राष्ट्रनेता का कर्त्तव्य, राष्ट्रपतन के कारण, राष्ट्र की उन्नति के साधन, राष्ट्रशिक्षा का महत्त्व, भाषाएँ, राष्ट्रबालक, राष्ट्रकोष, न्यायाधीश, राष्ट्रपरिषत् की स्थापना, राष्ट्रपति, सांसद एवं नेता, राष्ट्रीय शासक एवं सुख, दुर्भाग्य, राष्ट्र एवं अपमान, राष्ट्र एवं आर्य, क्रान्ति, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एवं नीति, कपटी ऋषि, अराष्ट्रीय शासन निन्दा, अयोग्य शासक, योग शासक, शान्ति, शिक्षा, शैक्षिक कर्त्तव्य, व्यापारनियमादि की स्थापना, आत्मघाती, धन्य पुरूष, अधम मानव, अपाहिजों आदि की व्यवस्था, पशुचरभूमि एवं उपवन आदि की स्थापना, कानून अथवा नियम, भिक्षाशी का दण्ड, वृति प्रशंसा तथा भृति निन्दा और शूरवीरता आदि का वर्णन है।

संकेत सूची

1.	अ.	=	अध्याय
2.	अ. पं. का.	=	अमृतसूक्तिपञ्चाशिका
3.	अ. स्तो. सं.	=	अमृतस्तोत्रसंग्रह
4.	अ. भि. म्	=	अवधूताभिवादनम्
5.	आ. वि.	=	आत्मविलास
6.	आ. पि. स्तो.	=	आपूपिकेश्वरस्तोत्रम्
7.	ईशा. उप.	=	ईशावस्योपनिषद्
8.	ई. प्र. का.	=	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका
9.	ई. प्र. वि.	=	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका विमर्शिनी
10.	ई. प्र. का. वृ.	=	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका वृत्ति
11.	च. सू.	=	चार्वाक सूत्र
12.	छां. उप.	=	छन्दोग्योपनिषद्
13.	तं. आं.	=	तन्त्रालोक
14.	तं. टी.	=	तन्त्रालोक टीका
15.	तं. सा.	=	तन्त्रसार
16.	दे. स्तो.	=	देव्याःस्तोत्रम्
17.	दे. नम्	=	देशिक दर्शनम्
18.	दु. सप्त.	=	दुर्गासप्तशती

19.	ना. ना.	=	नागानन्द नाटक
20.	प्र. हृ.	=	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
21.	पं. यो. दर्श.	=	पताञ्जलयोगदर्शन
22.	पं. ना. कम्.	=	पवननन्दनाष्टकम्
23.	प. ना.	=	परशिवप्रार्थना
24.	प. शि. स्ते.	=	परमशिवस्तोत्रम्
25.	प. म. स्तो.	=	परशुरामस्तोत्रम्
26.	पर. वा. कम्.	=	परशिवाष्टकम्
27.	परा. प्र.	=	पराप्रावेशिका
28.	परा. त्रिं.	=	परात्रिंशिका
29.	पं. स्त.	=	पञ्चस्तवी
30.	बा. पाहि.	=	बालकंमांपाहि
31.	बा. कृ. कम्	=	बालकृष्णदशकम्
32.	बृहद्. उप.	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
33.	ब्र. सू. शां. भा.	=	ब्रह्मसूत्रशङ्करभाष्य
34.	भ. गी.	=	भगवद्गीता
35.	भा.	=	भास्करी
36.	मं. क्रा. स्तो.	=	मन्दाक्रांतास्तोत्र
37.	म. स्मृ.	=	मनुस्मृति

38. म. वि. तं. = मालिनी विजयतन्त्र

39. महा. म. = महार्थमञ्जरी

40. महा. कृ. स्तो. = महागुरू श्रीकृष्ण स्तोत्र

41. महा. भ. स्त. = महानुभवशक्तिस्तवः

42. रा. लोक. = राष्ट्रालोकः

43. रा. घा. तवः. = रामाश्वधाटीस्तवः

44. वि. भरै. = विज्ञानभैरव

45. विं. शा. = विशंतिका शास्त्र

46. व. स्थि. श. = वस्तुस्थितिप्रकाशः

47. वे. सा. = वेदान्तसार

48. श्लो. = श्लोक

49. शि. सू. = शिवसूत्र

50. शि. दृ. = शिवदृष्टि

51. शि. स्तो. = शिवस्तोत्रवली

52. ष. त्रिं. त. सं. = षट्त्रिंशत्तत्त्संदोह

53. स. हृ. = सप्तपदी हृदयम्

54. सं. दर्श. = संजीवनी दर्शनम्

55. स्प. का. = स्पन्दकारिका

56. सि. रह. = सिद्धमहारहस्यम्

57. सं. पं. = संक्रान्ति पञ्चदशी

58. सौ. ल. = सौन्दर्य लहरी

59. त्रि. शि. स्तो. = त्रिगुणेश्वर-शिव-स्तोत्रम्

60. द्वि. सं. = द्वितीय संस्करण

61. वि. सं. = विक्रम सम्वत्

प्राक्कथन 1

जड़ चेतन समस्त प्रपञ्च में वह परमसत्ता ही एकमात्र उल्लासित हो रही है। तथापि इस विश्व में कोई राजा, कोई फकीर, कोई अल्पायु है, कोई दीर्घायु, कोई दुःखी है, कोई सुखी है। इस समस्त वैचित्र्य को देखकर यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि इसके पीछे क्या रहस्य है। सभी जीव प्रायः त्रिविध दुःखों से किसी न किसी तरह से दुःखी होते हैं और इन दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हैं तथा ऐकान्तिक तथा आत्यान्तिक शान्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। बन्धन से छुटकारा पाना और मोक्ष की प्राप्ति करना भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य है। इसमें आत्मा, परमात्मा, जीव, विश्व, माया इत्यादि सभी तथ्यों पर सूक्ष्मान्वेषण किया गया है।

जब मैं कला स्नातक परीक्षा उत्तीर्र्ण करने के पश्चात् उच्चरत शिक्षा प्राप्त करने के लिये जम्मू विश्वविद्यालय में आई, तो मेरे मन में विषय-चयन की समस्या उठ खड़ी हुई। कोई आधुनिक विषय लिया जाए अथवा भारतीय संस्कृति का प्रतीक। अन्ततः मैंने स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग में प्रवेश ले लिया और पाठ्यक्रम अध्ययन के मध्यान्तर में साहित्य, काव्य, व्याकरण, वेद, उपनिषद्, शिलालेख एवं दर्शन इत्यादि विषयों को पढ़ने का अवसर मिला। मेरे मन में उपर्युक्त बातें घूम रही थीं इस जगत् का नियामक कौन है, आत्मा क्या है, मरने के पश्चात् इसका क्या होता है ? जगत् नश्वर है अथवा स्थायी आदि-आदि। इसके समाधानार्थ मैंने एम.फिल्. उपाधि प्राप्ति हेतु दर्शन शास्त्र का विषय चुना। दर्शन शास्त्र का विषय तो बहुत विस्तृत है और भारतीय दर्शन भी अनेक हैं। लेकिन मैंने इनमें से एक तर्कसंगत और वैज्ञानिक दर्शन के रूप में काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन को ही अधिक उचित समझा। अतएव इस दर्शन के एक प्रकाण्ड आधुनिक विद्वान अमतृवाग्भव की कृतियों "श्रीपरमशिवस्तोत्रम् एवं महानुभवशक्तिस्तवः का एक अध्ययन" को शोध-निबन्ध हेतु स्वीकृत किया।

एम.फिल्. की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात्, मैंने आचार्य की सभी कृतियों पर काम करने के लिए मन बनाया। क्योंकि आचार्य की इन दो कृतियों पर काम करने से मुझे आचार्य के कार्य एवं ज्ञान के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ उससे मैंने यही समझा कि यदि आचार्य की सभी रचनाओं पर कार्य किया जाए तो ही इनके साथ न्याय होगा, क्योंकि इनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न रहा है। इन्होंने अपनी कृतियों में न केवल दर्शन को ही स्थान दिया है, प्रत्युत् समाज एवं देश के उत्थान के लिये धार्मिक एवं राजनीतिक ज्ञान का भी पर्याप्त मार्ग दर्शन किया है, जोकि वर्तमान विश्व एवं समाज के लिये अति महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणादायक है। इसीलिये इस विषय में शोध-चयन समिति

ने --- "श्री अमतृवाग्भवाचार्यका जीवन एवं कृतियां" यह विषय पी.एच.डी. की उपाधि हेतु पंजीकृत करने के लिये स्वीकृत किया।

यद्यपि यह विषय बड़ा गम्भीर एवं विशद है, तथापि डॉ. जगीर सिंह जी के सफल निर्देशन में अत्यन्त अल्पावधि में ही इसके गूढ़ रहस्यों का ज्ञान हो गया। इसलिए मैं इनकी हार्दिक आभारी हूँ। वास्तव में साक्षात् पराशक्ति ही गुरू के हृदय में प्रवेश करके शिष्य के अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करती है एवं अपनी कृपादृष्टि से उसको परामृतरस-रूप अभेद ज्ञान प्रदान करती है।[1] अतः अज्ञान रूपी सागर से पार उतारने वाली, ज्ञानरूपी नौकारूप, विचित्र अर्थपदों से युक्त, परिपूर्ण, सारगर्भित गुरूभारती को कोटिशः हार्दिक अभिनन्दन अभिव्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में आचार्य का जन्म-काल स्थिति एवं प्रभाव पर यथासम्भव तर्कसंगत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय में आचार्य द्वारा विरचित दार्शनिक, धार्मिक, स्तुतिपरक, काव्यपरक, राजनीति एवं विविध कृतियों का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में आचार्य की कृतियों में प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया है जिसे चार भागों में विभाजित किया गया है :-

दर्शन विषयक में परमशिव, छत्तीस तत्त्व, जगत्, महाविद्या, पूर्णकृर्तत्व, मल, जीव, प्रमाण, बन्ध-मोक्ष और उपाय आदि का सम्यक् विवेचन हैं

धर्म एवं नीति विषयक में विवाह, तीर्थ, देव शरीर वर्णन, पूजा एवं स्तुति, गुरूतत्त्व एवं नीति का उल्लेख है।

राजनीति विषयक में अनुबन्धचतुष्ट्य, राष्ट्र की शक्तियाँ, राष्ट्रनेता का कर्त्तव्य, राष्ट्रपतन के कारण, राष्ट्र की उन्नति के साधन, राष्ट्र शिक्षा का महत्त्व, भाषाएं, राष्ट्रबालक, राष्ट्रकोष, न्यायधीश, राष्ट्रपरिषद् की स्थापना, राष्ट्रपति, सांसद एवं नेता, राष्ट्रीय शासक एवं सुख, राष्ट्र एवं दुर्भाग्य, राष्ट्र एवं अपमान, राष्ट्र एवं आर्य, क्रान्ति, भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एवं नीति, कपटी ऋषि, अराष्ट्रीय शासन निन्ध, अयोग्य शासक, योग्य शासक, शान्ति, शिक्षा, शैक्षिक कर्त्तव्य, व्यापारनियमादि की स्थापना, आत्मघाती, धन्य पुरुष, अधम मानव, अपाहिजों आदि की व्यवस्था, पशुचर भूमि एवं उपवन आदि की स्थापना, कानून अथवा नियम, भिक्षाशी का दण्ड, वृत्ति प्रशंसा तथा भृतिनिन्दा और शूरवीरता आदि का वर्णन है।

---

1. शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरूवक्त्रं तदुच्यते - शि.सू., पृ. - 101

विविध क्षेत्र में सम्पादन एवं प्रकाशन, साहित्य क्षेत्र आदि का सम्यक् विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय में "आचार्य अमृतवाग्भव का भारतीय दर्शनों में महत्त्व" का वर्णन किया गया है। चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसक, न्याय-वैशेषिक और वेदान्त की जगत् विषयक धारणा एवं आचार्य द्वारा उनका युक्तियुक्त खण्डन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में आचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण की वर्तमान समय में प्रासंगिकता एवं उपसंहार रूप में समस्त शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का सार है। जिसमें दार्शनिक, राजनीति, सामाजिक एवं धार्मिक आदि शिक्षाओं का प्रकाशन किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध के कार्य को पूर्ण करने में मुख्य रूप से सहयोग देने के अधिकारी महानुभाव पराशक्तिकृपादृष्टिलब्ध डॉ. जगीर सिंह जी हैं। उन्हीं के प्रेमपूर्वक स्वभाव से तथा ज्ञानपूर्ण निर्देश से मैं अपने शोध कार्य को सफलतापूर्वक समाप्त करने में समर्थ हो सकी हूँ।

उनके प्रति केवल आभार प्रकट करने से ही मैं ऋण से मुक्त नहीं हो सकती फिर भी उनके लिये कृतज्ञता प्रकट करना अपना उदार कर्त्तव्य समझती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के कार्य में प्रो. कौशल्यावल्ली, डॉ. शारदा गुप्ता, डॉ. रमणीका, डॉ. केदारनाथ, प्रो. रामप्रताप एवं अन्य विभाग के प्राध्यापकों ने जो सम्पूर्ण रूप से सहयोग दिया वह अविस्मरणीय है। इन सब के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ।

मैं विशेष रूप से आभारी हूँ अपने माता-पिता की, जिन्होंने सदैव मेरी सुविधाओं का ध्यान रखते हुए इस शोध पथ पर सदा अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है।

मैं अपने जीजा जी, भाभी जी तथा प्रिय सखियों के प्रति भी बहुत आभारी हूँ जो मुझे पढ़ने के लिये प्रेरित और उत्साहित करते रहे हैं। उनकी सहायता के बिना यह शोध-प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था।

जम्मू के रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्यवर्य माननीय डॉ. राघव प्रसाद चौधरी के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। उन्होंने विद्यापीठ पुस्तकालय एवं काश्मीर शैव दर्शन विभाग में उपलब्ध सम्बद्ध सामग्री से लाभान्वित होने का मुझे सुअवसर दिया।

पितृतुल्य काश्मीर के पंडित दीनानाथ यक्ष, जो अब विस्थापित होकर जम्मू रह रहे हैं, सबसे अधिक सहयोग मुझे उनके परिवार से मिला है। उनकी ममता एवं स्नेह की देन से अपने शोध-कार्य को पूर्ण कर सकी हूँ अतः उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. महेश शर्मा जी ने जो सब प्रकार का यथेष्ठ सहयोग प्रदान किया, वह कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता, अतएव उनके प्रति हार्दिक आभारी हूँ।

मैं रघुनाथ मन्दिर के अनुसन्धान पुस्तकालय के अधिकारियों और दिल्ली के अनुसन्धान पुस्तकालय के अधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने मुझे पुस्तकों की उपलब्धियों में यथोचित सहायता देने का प्रयास किया।

पण्डित बलजिन्नाथ जी, रामनाथ शास्त्री और देवरत्न शास्त्री की बहुत कृतार्थ हूँ जिन्होंने मेरा शोध कार्य सम्पन्न करने हेतु कृतियों की सामग्री एकत्रित करने में अपना योगदान दिया।

अपने विभाग के पुस्तकालय के अधिकारी — श्री विजय बड़ियाल और भरतकुमार की भी धन्यवादी हूँ, जो समय-समय पर वांछित पुस्तकें उपलब्ध करवाते रहे। इसके अतिरिक्त अपने सहपाठी शोध-छात्रों का भी सहयोग बड़ा प्रशंसनीय है।

धनीराम शास्त्री जी का भी धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने रघुनाथ पुस्तकालय से हमें पुस्तकें दिलाने के लिये पर्याप्त मदद की।

अपने बहनों और भाईयों के प्रति भी मैं बहुत ही आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी समस्याओं को सुलझाया और आवश्यकताओं को पूरा किया तथा सबसे बढ़कर मुझे शोध-कार्य करने की आज्ञा दी।

इसके अतिरिक्त उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिसकी कृतियों अथवा उपदेशों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में शोध कार्य के लिये सहायता मिली।

विद्वज्जनों के शुभाशीर्वाद से जगत्-कल्याणार्थ पराशक्ति को सादर समर्पित करती हुई।

विनीता

अनीता बेदी

(अनीता बेदी)

मार्च, 1998

प्रथम अध्याय

आचार्य का जन्म, काल, स्थिति एवं प्रभाव

आचार्य का जन्म, काल, स्थिति एवं प्रभाव

संसार में उसी प्राणी का जीवन सफल माना जाता है जिसका आचार और व्यवहार, चाहे वह कोई भी कार्य करे, परोपकार की भावना से युक्त हो। "परोपकाराय सतां विभूतयः" इस प्रकार विश्व में अनेक महापुरूष हुए हैं, जिनमें से अमृतवाग्भव आचार्य भी एक हैं। जब संसार में अत्याचार बढ़ जाता है, तो साधुजनों के कल्याण के लिए अथवा लोगों की भलाई के लिये महापुरूष अवतरित होते हैं। जैसा कि भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है एवं अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं साधुजनों एवं धर्म की रक्षा के लिये तथा दुष्टजनों एवं अधर्म के नाश के लिये अवतरित होता हूँ।[1] इस अवतरण प्रक्रिया में भगवान् स्वयं किसी न किसी रूप में अवतरित होते हैं, अथवा किसी महापुरुष को प्रेषित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् की प्रेरणा से ही आचार्य ने भी सभी तरह के गुणों से युक्त होकर इस भूमि पर जन्म लिया एवं अपनी प्रतिभा और दिव्य ज्ञान के माध्यम से संसार का परोपकार किया।

जीवनवृत्त और समय

आचार्य के जीवन, समय और स्थान आदि के विषय में परिपूर्ण जानकारी इनकी कृतियों से उपलब्ध नहीं होती है, तथापि उनसे अंशतः परिचय उपलब्ध हो ही जाता है।

वंश परम्परा

आचार्य की स्वरचित कृतियों के अनुसार इनकी जन्म-धरा भारत की सुप्रसिद्ध एवं पवित्रतम् नदियों-गंगा-यमुना का मध्यभाग था। इनके अपने ही कथनानुसार वह एक विद्वान, अति कुलीन और उच्च ब्राह्मण सत्कुल में उत्पन्न हुये थे, जो विप्रों में अग्रगण्य था।[2(क, ख)]

अमृतवाग्भव जी का जन्म 1903 ई.पू. में इनके ही अन्तरंग शिष्य डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित के कथन के अनुसार हिन्दुओं के परम पावन तीर्थ स्थल तीर्थराज प्रयाग में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री कृष्ण शास्त्री वर्कले और

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। -भ.गी.-4/7,8

2. क) अन्तर्वेदिसमुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः।
पङ्क्तिपावनविप्राणामुत्पन्नो विदुषां कुले।। -अ.वि. - 7/2

ख) विद्वद्ब्राह्मणसत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठ स्वयं। -वही - 7/9

इनकी माता का नाम राधा था।[1] ईश्वर को इनका मातृ-प्रेम प्रिय नहीं था, इसलिए तीन वर्ष की ही आयु में इन्हें उनका विछोह झेलना पड़ा। शिशु के पालन-पोषण की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए इनके पिता जी ने एक वर्ष बाद दूसरा विवाह कर लिया। आचार्य की विमाता के गर्भ से इनके भाई का जन्म हुआ जिसका नाम रामचन्द्रवर्कले था।[2] "अमृतावाग्भव" का बचपन का नाम "वैद्यनाथ वर्कले" था। वैसे इन्हें हिमाचल प्रदेश और जम्मू-काश्मीर में लोग "आनन्दस्वरूप" के नाम से भी जानते थे। आचार्य के वंश की अल्ल वरकल अर्थात् वर्कले थी। यह अपने पिता का बहुत सम्मान करते थे एवं उनके आज्ञाकारी थे। इनके पिता बड़े महान्, तपस्वी और सर्वशास्त्र मर्मज्ञ थे। आचार्य के पिता महाराष्ट्री ब्राह्मण थे, जो विदर्भ के रहने वाले थे। इनका एक पूर्वज बनारस में रहता था। अतः यह भी वहीं जाकर रहने लगे। वह संगीतादि कलाओं के भी विशेषज्ञ थे। इस प्रकार जबकि इनको माता के प्रेम से वञ्चित रहना पड़ा, फिर भी महान् एवं विद्वान् पिता के सान्निध्य से इन पर ज्ञान का अधिक प्रभाव पड़ा।

शिक्षा एवं आचार्य पदवी

बनारस के "क्वीनज़-कॉलेज" में इनकी शिक्षा-दीक्षा समाप्त हुई। जो आजकल संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। ईश्वर ने 12 वर्ष की आयु में इनके पिता की छत्र-छाया भी इनके ऊपर से छीन ली और वह शिवधाम को प्राप्त हो गए।

आचार्य ने अपने पिता के स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् अपने घर की पूरी ज़िम्मेवारी सम्भाल ली। इनके घर में अजीविका का भार-वहन करने वाला दूसरा कोई नहीं था। यह बहुत परिश्रमी, स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी थे। जो भी कार्य अपने हाथ में लेते थे, उसे सम्पन्न करके ही छोड़ते थे। अपने इन्हीं नैसर्गिक गुणों के बल पर इन्होंने अपने चाचा "मयूरेश्वर वर्कले" से संस्कृत का अध्ययन किया एवं तीव्र बुद्धि के प्रभाव से जल्दी ही उसमें निष्पात हो गये। इनको छात्रवृत्ति भी पांच रुपये मासिक मिलती थी और उसी के माध्यम से यह गृहकार्य का सुचारू रूप से प्रबन्ध कर लेते थे। इन्होंने जीवन-यात्रा के लिए किसी अन्य व्यक्ति के आगे हाथ नहीं फैलाये। इसलिए अपने बल-पौरुष से उपार्जित धन से ही निर्वाह करते थे।

आचार्य ने धर्मशास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया था, अपितु आचार्य पदवी को भी प्राप्त किया था।

---

1. सामरस्य-समुल्लासः श्रीराधाकृष्णयोः परः।
अध्मात्माऽमृतासारि-वाग्भवो जयताच्चिरम्।। -प.शि.स्तो., श्लोक-3

2. पञ्चकृत्यमिषान्नित्यं स्फारयन् स्वांवरां कलाम्।
शिवो वरकलो वैद्यनाथो विजयतां सदा।। -वही -, श्लोक-4

गुरू

पूज्यवाद आचार्य महोदय को श्री विद्या की मन्त्र दीक्षा बचपन में उपनयन संस्कार के ही समय अपने पिता जी से प्राप्त हुई थी। अपने पिता से ही इन्हें शैव-दर्शन के सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। उच्च शिक्षा के लिये जब वे "कवीनज़ कॉलेज" में व्याकरण-शास्त्री की कक्षाओं में अध्ययन करते थे, तो कॉलेज के तात्कालिक प्रिंसिपल महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से इन्होंने शैव-दर्शन के कुछ ग्रन्थों का अध्ययन किया। इनके अतिरिक्त महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त के परमार्थसार, भोज के तत्त्वप्रकाश और महेश्वरानन्द के महार्थमञ्जरी परिमल को भी पढ़ा। अपने पिता द्वारा प्रदत्त श्री विद्यामन्त्र के अनुष्ठान के प्रभाववश भगवती की प्रसन्नता से ही महामुनि भगवान् दुर्वासा ने अपार अनुग्रह करते हुए साक्षात् दर्शन दिए। इन्होंने अपने परम सद्गुरू दुर्वासा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुये कहा है कि उनकी कृपा दृष्टि से ही इनको शिवभाव की प्राप्ति एवं भवताप की निवृत्ति हुई। इसलिये यह सदा तन्मयभाव में रहते हुये उनकी अनुकम्पा के भाजन बने रहते थे।[1] आचार्य महोदय ने इनको करुणा के समुद्र, लोक द्वारा पूजित, अत्रि मुनीश्वर के पुत्र और कोपभट्टारक संज्ञक गुरू के रूप में स्मरण किया है।[2] इन्होंने इन्हें शाम्भवयोग की पूरी दीक्षा प्रदान की।

तदनन्तर इन्होंने इस अनुभव का संसार-कल्याण के लिये और परमशिव के सन्तोष के लिये "परमशिवस्तोत्र" के रूप में प्रकटाव किया। इन्होंने स्तोत्र के अतिरिक्त बहुत सी अन्य रचनायें स्तुतिपरक, धर्मशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिपरक, दर्शनशास्त्र विषयक प्रशस्तियाँ और भक्तिपरक आदि के रूप में लिखीं।

आजीविका निर्वाह

आचार्य महोदय का यद्यपि आमदनी के लिये कोई निश्चित् राजकीय अथवा निजी क्षेत्र में विशेष स्रोत नहीं था, तथापि यह यदा-कदा पुस्तकालयादि में सम्पादक का कार्य करते थे। इससे एक तो इनको विविध शास्त्र अध्ययन में सहायता मिलती थी, दूसरे जो थोड़े-बहुत सम्पादन के लिये रुपये मिलते थे-- उनसे यह घर का निर्वाह कर लेते थे। इस कार्य में इनके प्रेरणा स्रोत महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज थे। अनुसंधान के क्षेत्र में इनका मार्गदर्शन विशेष लाभप्रद रहा। अनुसंधान के क्षेत्र में इनको पहले बारह रुपये, फिर पन्द्रह रुपए मासिक मिलते थे और तत्पश्चात् बीस रुपये मासिक मिलते रहे।

---

1. शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालितं हृदि।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम।। -प.शि.स्तो., श्लोक-1

2. वन्देऽत्रिनन्दनं विश्ववन्दितं करुणार्णवम्।
कोपभट्टारकं पूर्णयोगदीक्षाप्रदं गुरूम्।। -वही-, श्लोक-2

विवाह, संन्यास एवं परिव्राजक जीवन

आचार्य का विवाह एक धनी परिवार की सुन्दर कन्या से हुआ था। लेकिन महापुरूषों के कथानुसार विवाह और मैत्री समान कुल वालों के ही सफल होते हैं। इसके विपरीत होने पर प्रायः निराशा, असफलता एवं दुःखों को ही झेलना पड़ता है।[1] आचार्य के धनी ससुराल वालों ने आचार्य की आर्थिक दुर्दशा की खिल्ली उड़ाई, तिरस्कार किया और कन्या को इनके यहां न भेजना ही उचित समझा। इस तरह अपमानित होने पर आचार्य का सांसारिक मोह उत्कट वैराग्य में परिवर्तित कर राम की भक्ति में परिणत हो गया। उसके पश्चात् आचार्य ने गृह त्याग कर संन्यास ले लिया। इस प्रकार इनका विवाह औपचारिक परम्परामात्र होने से यह आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे। आचार्य अपने वैवाहिक जीवन के वैफल्य के विषय में कहा करते थे कि इन्होंने श्रीविद्या की उपासना से भगवती का साक्षात्कार किया था और कोई भी कार्य करने से पहले उनका ध्यान करके दैविक प्रेरणा ले लेते थे, परन्तु विवाह के समय इन्होंने भगवती का स्मरण न करने की भूल की थी। अतः इनका वैवाहिक जीवन सफल नहीं हो सका। वैसे एक बार सन् 1950 ई.पू. में वृन्दावन में, जबकि यह परिव्राजक वेश में ही थे, इनसे मिलने आई। परन्तु इनके तप, तेज से प्रभावित होकर उसने इनसे योग दीक्षा ले ली और तपस्विनी बन गई।

आचार्य ने परिव्राजक-जीवन में अपनी शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिये हरियाणा, हिमाचल, पंजाब, उत्तरप्रदेश, जम्मू-काश्मीर आदि प्रदेशों में भ्रमण किया। इन्होंने अपने योग बल से विभिन्न तीर्थों के दर्शनकाल में तत्सम्बन्धी देवताओं के साक्षात् दर्शन किये थे। इन्हीं भ्रमणों के मध्य में कश्मीर प्रदेश में बारामूला नगर में भगवती शैलीपुत्री के मन्दिर में इन्हें जो दर्शन प्राप्त हुआ, इनके अनुसार वह स्वयं एक विश्वरूप जैसा था इन्होंने उस दर्शन को आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति कहा है। अपने भ्रमण विषयक अनुभव के विषय में वर्णन करते हुये कहते हैं कि इन्हें कश्मीर देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी और इसलिये यह कुछ देर के लिये आत्मानन्द रस की अनुभूति करते हुये वहां रहे।[2] कश्मीर के अन्य प्रमुख तीर्थस्थलों एवं मन्दिरों के महात्म्य का वर्णन करते हुये इन्होंने कहा है कि वहां पर महागणेश और भगवती "बीड़ा" का मन्दिर भी है, जो भक्तों पर कृपा करने के लिये वहां प्रकट हुई है।[3] वहां पर ही कपालमोचन तीर्थ के दर्शनोपरान्त उसके थोड़ी दूर स्थित "हवाल" नामक ग्राम में सुन्दर स्थल और कुल्या के सौन्दर्यवर्धक दृश्य से प्रभावित होकर यह कुछ देर वहां रहे।[4] इनका कहना है कि उस गांव में ब्राह्मण लोग रहते थे,

---

1. अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम्।
केषाऽन्यदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम्।। -ना.ना., 2/1

2. प्रसङ्गतः समायातः काश्मीरालोकनोत्सुकः।
उवास कञ्चित समयं स्वानन्दरसनिभरः।। -अ.वि., 7/4

3. महागणेशो यत्राऽऽस्ते बीडा भगवती च सा।
प्रकटीभूय भक्तानामनुग्रहचिकीर्षया।। -वही-, 7/6

4. ग्रामे हवाल इत्यारव्ये शुभे काश्मीरमण्डले।
कपालमोचनातीर्थादुदीच्यां सार्धयोजने।। -वही-, 7/2

जो उस कूल में स्नान-पानादि समस्त क्रियाएँ करते थे।[1] आचार्य ने यहां पर कण्ठभट्ट नामक ब्राह्मण की प्रेरणा से द्रवित होकर उमापति महादेव की प्रसन्नता और संसार की भलाई के लिये "आत्मविलास" नामक अपनी प्रसिद्ध रचना लिखी।[2]

राजाश्रय

आचार्य के ज्ञान और प्रतिभा की परिपक्वता से प्रभावित होकर बहुत से राजाओं ने इन्हें सम्मान दिया, सहारा देने की प्रार्थना की और इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इनमें से अधिकतर हिमाचल के अनेक राजाओं से इनका सम्पर्क हुआ और राजाश्रय भी मिलता रहा। आचार्य जनता जनार्दन की सेवा के लिये गाँव-गाँव घूमते हुए अपने शिष्यों के घरों में ठहरते रहे। लेकिन भरतपुर के राजा का अपने प्रति आदर और भक्तिभाव देखते हुए प्रायः उसके यहां भी जाते रहे। आचार्य केवल साधारणजनों में ही अपनी शिक्षा का प्रचार-प्रसार नहीं करते रहे, अपितु विद्वद्संगोष्ठियों में भी भाग लेकर शास्त्र-चर्चा करते रहे। यहाँ कहीं भी संगोष्ठी होती आचार्य महोदय उसमें अवश्य भाग लेते थे। इसी उपलक्ष्य में यह बम्बई और कलकत्ता आदि नगरों में भी गये।

संस्था निर्माण

आचार्य महोदय न केवल मौखिक उपदेश ही दिया करते थे, अपितु इन्होंने उनको लिपिबद्ध भी किया। उपदेशों की निरन्तरता बनाये रखने के लिये कुछ संस्थाओं का भी निर्माण किया। सोलन में आचार्य ने "स्वाध्यायसदन" नामक संस्था की स्थापना की थी और 1960 ई.पू. "श्रीस्वाध्याय" नामक पत्रिका भी 16 वर्षों तक प्रकाशित करते रहे। इसी मध्य कारणवश सदन का काम रुक गया और इसलिये आचार्य ने भरतपुर में अपना पुस्तक भण्डार स्थानान्तरित कर दिया। 1980 से 1982 तक यह बीमार रहे और दिल्ली में ही निरन्तर रहते रहे। इन्होंने एक शोध संस्थान "श्रीपीठसैद्धदर्शन" के नाम से अपने शिवधाम गमन के कुछ वर्ष पहले ही स्थापित करवाया था। उसी संस्थान ने जम्मू में आचार्य के कई ग्रन्थों का प्रकाशन किया। दिल्ली में इन्होंने जीवन के अन्तिम वर्ष में "विद्वद्वरकले श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान की स्थापना की थी तथा प्रकाशन कार्य हेतु "श्रीविद्या प्रकाशन" नामक एक प्रसिद्ध संस्था का भी निर्माण किया था।

---

1. रमण्याटव्यथिंगता कुल्या यत्र विराजते।
ग्रामीणविप्रै:संसेव्या स्नानपानादिकर्मसु।। -अ.वि., 7/5

2. तत्रत्य -"कण्ठभट्टा"- रव्यब्राह्मणप्रार्थनाद्रुत:।
ग्रन्थमात्मविलासाख्यं जग्रन्थ सुमनोरमम्।। -वही-, 7/7

व्यक्तित्व

आचार्य महोदय का व्यक्तित्व विभिन्न विशेषताओं से ओत-प्रोत.था। यह एक उन युग प्रभावकारी महानपुरूषों में से प्रतीत होते हैं, जो अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से तत्कालीन समाज को बदलने में समर्थ होते हैं।

सर्वशास्त्र मर्मज्ञ

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में तो आचार्य की अपनी ही पैठ थी। इसी के बल पर इन्होंने अद्वैत शैव दर्शन को एक नवीन दिशा दी। आचार्य धर्मशास्त्र में भी पूरी तरह से निष्पात थे इस तरह यह सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ थे।

सिद्ध पुरूष

आचार्य के दैवीज्ञान के अनुग्राहक भगवान् दुर्वासा थे, जिससे पता चलता है कि इनमें सिद्ध-पुरूष के पूर्ण लक्षण विद्यमान थे। इनके ज्ञान का मूल स्तोत्र भी सोमानन्द एवं वसुगुप्त की तरह दैवी ही था।

अथक परिश्रमी एवं संघर्षशील

आचार्य महोदय एक निर्धन परिवार से सम्बन्ध रखते थे। इनके माता-पिता इनकी छोटी सी अवस्था में ही चल बसे थे। आचार्य ने परिवार के संचालन योगाभ्यास एवं शिक्षा में कोई भी कमी नहीं आने दी। इन्होंने अपने अध्ययन के लिये सम्पादन तथा "प्रूफरीडिंग", जैसे कार्यों से न केवल अपनी शिक्षा का खर्चा चलाया, बल्कि घर का प्रबन्ध भी उसी से चलाया। इन्होंने अपने संघर्षमय जीवन से यह सिद्ध कर दिया कि अथक परिश्रम, सहनशीलता, लग्न और लक्ष्य के प्रति समर्पिकता की भावना से कोई काम भी असम्भव नहीं रहता है। अत: यही बातें सिद्ध करती हैं कि आचार्य एक सफल प्रबन्धक, दूरदर्शी एवं कुशल परिश्रमी भी थे।

कुलीन एवं अद्वैत ज्ञानी

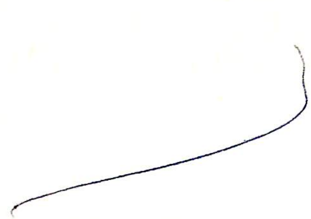
आचार्य अनन्य शैव भक्त, सत्कुलीन, वैराग्यवान् एवं परम अद्वैत ज्ञानी थे। "परमशिवस्तोत्र" से स्पष्ट होता है कि परमसत्ता के प्रति अधिक स्नेहभाव के कारण इन्हें संसार के प्रति विरक्ति थी।[1] इससे शिव के प्रति आचार्य की अगाध भक्ति स्पष्ट झलकती है।

कुशाग्र-प्रतिभा एवं स्मृतियुक्त

आचार्य एक कुशाग्र-बुद्धि एवं स्फुट प्रतिभा शक्ति से सम्पन्न थे। जब इनके पिता की मृत्यु हो गई और इस कारण इनके अध्ययन-कार्य में बाधा आने लगी, तो इन्होंने अपने पितृत्व से संस्कृत जैसी कठिन भाषा को बहुत

---

1. वैराग्यज्ञानभक्त्याद्यनादृतस्वजगत्पथः।
वदान्यपरमाऽपारकरूणालोलसत्कुलः।। -अ.वि., 7/1



शीघ्र सीख ही नहीं लिया, अपितु उसमें निपुण भी हो गये। व्याकरण जैसे दुर्बोध शास्त्र को समझ करके हृदयङ्गम कर लिया। यह अपने को एक परम विद्वान् मानते थे और इसका इन्हें स्वाभिमान भी था।[1]

ब्रह्मचारी

आचार्य लोकाचार से ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनका विवाह हुआ था। परन्तु परमहंस रामकृष्ण की तरह अपनी पत्नी से इनका शारीरिक सम्बन्ध कभी नहीं रहा और आध्यात्मिक रूप में यह सदा परमसत्ता में मग्न रहते थे। अतः आचार्य एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे।

राष्ट्रवादी

आचार्य ने अपनी प्रसिद्ध राजनीतिक रचना "राष्ट्रलोक" में राजनीति के कर्णधारों के लिये जिन आधारभूत नैतिक मूल्यों का सिद्धों के शैवी दृष्टिकोण से वर्णन किया है, वह आज के वैज्ञानिक युग में विश्व-शान्ति के लिये परम आवश्यक है। यह एक हिन्दी कहानीकार, गज़ल, लेखक और काव्यरचयिता भी थे। यह एक मौलिक लेखक के साथ-साथ सफल भाष्यकार भी थे।

त्रिकालज्ञ

आचार्य के "आत्मपरिचय" नामक लघु काव्य से पता चलता है कि यह त्रिकालदर्शी साधु थे। इन्होंने भूत और भविष्य को अपने योग के बल के वर्तमानवत् अनुभव कर लिया था। इसी सामर्थ्य से यह अपने पूर्वजीवन के चार वर्षों का वृत्तान्त जानते थे। अपने जीवन के पूर्वचतुर्थ जन्म में यह देवलोक में एक विद्याधर थे और साधु वेश में ही रहते थे। दूसरे विद्याधरों की ईर्ष्याद्वेष के कारण इन्हें अपने पर झूठा लांछन लगने से अपने गुरू के क्रोध का भाजन बनना पड़ा, जिसे इन्होंने सहन नहीं किया। जिससे क्रोधित होकर आचार्य को चार बार गुरू ने मृत्युलोक में जन्म लेने का शाप दे दिया। लेकिन वर्तमान चौथे जन्म में भवान् दुर्वासा की कृपा से शाम्भव योग की दीक्षा के अभ्यास के मृत्युलोक से छुटकारा पाकर ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति होने का इन्हें पता लग जाना इनके भविष्यत् ज्ञान का प्रबल द्योतक है।

जीवन्मुक्त

आचार्य की "आत्मविलास" रचना से प्रतीत होता है कि यह एक जीवन्मुक्त की दशा के अनुभावक थे। जिस प्रकार गीता में ब्रह्मज्ञान की स्थिति प्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण ने कहा है कि न तो उसके लिये कुछ अपर्याप्त होता है

---

1. क) समुद्रभूतःकोऽपि विद्वदपश्चिमः। -वही-, 7/2
   ख) वपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं। -वही-, 7/9

और न कुछ प्राप्नीय होता है उसका आचार-व्यवहार केवल लोक संग्रह के लिये होता है।[1]

लोग तो "महाजनो येनगता सः पन्थः" उक्ति अनुसार महापुरूषों के बताते हुए रास्ते पर ही चलते हैं। इसी प्रकार आचार्य ने शिवैक्य की प्राप्ति होने पर भी लोक-कल्याण के लिये लिखा और उसके पीछे इनका अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं था। यह अपने आपको सदैव शिवरूप में ही अभिव्यक्त करते हैं।[2]

शिवत्व प्राप्ति

अक्तूबर, 1982 ई.पू. शिवेच्छा से ही कार्तिक मास में शुक्ला नवमीं तिथि को इनका शिवधाम गमन हुआ। आचार्य के पांच भौतिक तन को हरिद्वार में पहुंचाया गया। इन्हें नीलधारा में संन्यासियों के लिए निर्धारित शास्त्रविधि के अनुसार जल-समाधि दी गई। दिल्ली में तभी से लेकर के आचार्य की शिवैक्य प्राप्ति की तिथि के अवसर पर हर साल इनका निर्वाणोत्सव मनाया जाता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि "श्री अमृतवाग्भव आचार्य" जी एक बहुमुखी प्रतिभा से युक्त विद्वान् और महान् व्यक्तित्व थे। आचार्य का ज्ञान एवं शिक्षायें मनुष्य मात्र के निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये सदैव लाभदायक है। संसार में तभी परम शान्ति का मार्ग प्रसारित हो सकता है, जब हम इन पर आचरण करें।

---

1. न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यंत्रिषुलोकषु किंचन।
   नानावाप्तव्यंवर्त एव च कर्मणि।। -भ.गी., 3/22

2. सच्चिदानन्दरूपेण सच्चिदानन्दरूपिणः।
   सच्चिदानन्दस्वरूपं स्पानन्दाय निरूपितम्।। -अ.वि., 2/25

द्वितीय अध्याय
श्री अमृतवाग्भवाचार्य द्वारा विरचित कृतियाँ

श्री अमृतवाग्भवाचार्य द्वारा विरचित कृतियाँ

आचार्य अमृतवाग्भव एक उच्च कोटि के विद्वान थे। इन्होंने अपने ज्ञान, विज्ञान, अनुभव, योग - बल एवं साधना से जो भी अर्जित किया था, वह उसे परोपकारार्थ साधारण लोगों की भलाई के लिए सर्वसुलभ करना चाहते थे। यही कारण है कि आचार्य ने अपने उपदेशों को मौखिक रूप तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत् अपने उपदेशों को लिखित रूप भी दिया, ताकि वह अक्षुण्ण भी रह सके। जिस प्रकार मेघ समुद्र से जल का ग्रहण किसी स्वार्थवश नहीं करता है, अपितु संतप्त-धरती और प्राणियों की शान्ति के लिये उस का विसर्जन करता है, उसी प्रकार सत्पुरूष स्वभाविक रूप से परोपकारी होते हैं। उनका अपना स्वार्थ कुछ नहीं होता है, अपितु निष्काम भावना से ही वह जो कुछ भी ग्रहण करते हैं, वह परजनहिंतार्थ ही होता है। आचार्य ने अपने जीवनकाल में बहुत सी कृतियाँ लिखी, जो प्रमुखतया धर्म, राजनीति, दर्शन, भक्ति और राष्ट्रीय एकता की विचारधारा से ओतप्रोत थी। इन कृतियों का विषयानुसार विवरण इस प्रकार है :-

(अ) आचार्य की दार्शनिक एवं स्तुतिपरक कृतियाँ

(क) दार्शनिक ग्रन्थ

श्री परम शिव स्तोत्र : दर्शन शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में "परमशिवस्तोत्र" का नाम सर्वप्रथम आता है। "परमशिवस्तोत्र" एक ओर से स्तोत्र काव्य है एवं दूसरी ओर से एक गहन दर्शन शास्त्र भी है। यह सैद्ध दर्शन का एक सुन्दर ग्रन्थ है। तभी तो कहा गया है कि इसके रहस्य को सद्गुरू के उपदेश से जानकर यदि इनका अभ्यास किया जाए तो जीव शिव बन सकता है। इस स्तोत्र को सद्गुरू के मुख कमल से प्राप्त करके एकाग्रचित होकर पाठ करता हुआ पशु प्रमाता अर्थात् बद्ध जीव पशुपति अर्थात् शिव बन सकता है।[1] इस का निर्माण सन् 1926 ई० पू० मे किया गया। इस प्रकृत स्तोत्र में छत्तीस (36) तत्त्वों के रूप में स्वात्म परमेश्वर की स्तुति की गई है।

वस्तु-स्थिति प्रकाश: : आचार्य द्वारा रचित "वस्तु- स्थिति क्या है" इस शीर्षक से "श्रीस्वाध्याय में इनकी एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी। उन लेखों का संग्रह करके और आवश्यकता के अनुसार उनका

---

1. सम्प्राप्य गुरू वक्त्राब्जाच्चेतसानन्यगामिना।
सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्यात् पशुः पशुपतिः किल।। -प. शि. स्तो., श्लोक- 44

स्पष्टीकरण कहते हुए "श्रीपीठ नाम के सैद्ध दर्शन शोध-संस्थान" की ओर से सन् 1984 में उनको पुन: प्रकाशित किया गया। इस लेख माला को पुस्तिका के आकार में "वस्तु-स्थिति प्रकाश:" इस शीर्षक से प्रकाशित करते हुए इसकी बंधाई "श्री परमशिव स्तोत्र" के साथ एक ही जिल्द में कराई गई। इस लघु रचना में सात उन्मेष हैं। इनमें क्रमश: वस्तुस्थिति का तत्त्व, आत्मनिवेदन, भेद में भी अभेद, आत्म-साक्षात्कार किसको और आत्मा का ही, कर्त्तव्य और सुखी कौन का वर्णन किया गया है।

आत्मविलास : यह ग्रन्थ दर्शनविद्या का एक नवीन ढंग से प्रतिपादन करने वाला दर्शन ग्रन्थ है एवं आचार्य अमृतवाग्भव [illegible] के तर्क प्रधान दर्शन ग्रन्थों में सर्वोत्तम है। इसमें "आत्मा" अर्थात् परमसत्ता के अन्तर्मुखी एवं [illegible] ऐश्वर्य का सफल प्रतिपादन किया गया है। 1930 ई.पू. में इस ग्रन्थ का निर्माण काश्मीर मण्डल के भीतर पाम्पोर (पद्मपुर) और शुपयन के बीच में राजमार्ग पर बसे हुए "हवाल" नाम के गाँव में वह[illegible] निवासी ब्राह्मण "[illegible]ठभट्ट" के घर में हुआ। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचा हुआ एक [illegible] ग्रन्थ है। आचार्य द्वारा प्रदत्त इस पर व्याख्या को उनके नालागढ़ (हि.प्र.) निवासी [illegible] द्वारा 193[illegible] ई.पू. में लिखा गया। इसका "सुन्दरी" नाम से 1936 ई.पू. में प्रथम प्रकाशन हो गया। [illegible] संशोधित प्रकाशन जम्मू में हुआ। इसकी विस्तृत टीका अभी अप्रकाशित है।

महानुभ[illegible]स्तव: : यह एक अति लघु काय ग्रन्थ है। एक ओर से यह दर्शन ग्रन्थ है और दूसरी ओर से स्तोत्र काव्य है। इसमें आचार्य ने परमेश्वर की अभिन्नरूपता पराशक्ति की स्तुति के रूप में बताया है कि उसके पाँच स्वरूपों (सोपानों) अर्थात् चित्त, आनन्द, इचछा, ज्ञानऔर क्रिया शक्ति के विमर्शात्मक अन्त:परिस्पन्दन से ही परमेश्वर सुष्टि, संहार लीलाओं में सतत् प्रवृत्त रहता है। यह उसका निजी स्वभाव है, परमेश्वता है, जिसके कारण वह वेदान्त -- सम्मत ब्रह्म की भान्ति मायादि पर अवलम्बित नहीं रहता। इसका निर्माण सन् 1936 ई.पू. में हुआ और संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी टीका के सहित इसका पुस्तकाकार प्रकाशन भरतपुर में 1953 ई.पू. में हुआ।

विशंतिका शास्त्र : इस लघुकाय दर्शन शास्त्र में प्रमुख रूप से स्वभाव की विशेषताओं, मूल तत्व के रूप, स्वभावमयी विश्वमयी लीला एवं अनेक प्रकार की नामरूपात्मक अभिव्यक्त्यिों का वर्णन किया गया

है। इसका निर्माण भरतपुर के निवासी अनन्य भक्त एवं शिष्य मिश्र गोबिन्द शर्मा की प्रार्थना पर 1951 ई. पू. में किया गया। उस पर प्रो० रामचन्द्र की "प्रसादनी", रघुनाथचन्द्र शास्त्री की "प्रकाशिनी" और डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित की "विमर्शनी" नामक तीनों टीकाओं सहित 1951 ई.पू. में इसका प्रकाशन मिश्र गोबिन्द शर्मा द्वारा भरतपुर में किया गया।

में

के

र

पर

सिद्धमहारहस्यम् : यह ग्रन्थ सिद्धों की परम अद्वैत शैव दर्शन विद्या के अनेकों रहस्यमय दर्शन सिद्धान्तों पर एक नवीन और अद्भुत ढंग से प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ की कारिकाओं का निर्माण पूज्यपाद आचार्य महोदय समय-समय पर करते रहे। पश्चात् उन सभी कारिकाओं का संग्रह और समुचित क्रम में रखकर इन्होंने सन् 1963 ई.पू. में भरतपुर में इसे एक ग्रन्थ का रूप दे दिया। इसमें विशेषकर शिव अथवा शक्ति नाम की अपेक्षा "शाक:" नाम की औचित्यता, जगत् प्रपञ्च की शक्तिरूपता, अपने इष्ट गुरू दुर्वासा की अनुग्रहरूपता, शाम्भव समावेश और उसके परिणामस्वरूप होने वाले दिव्यदर्शनों शाम्भवयोग की प्राप्ति के उपायों और भगवती त्रिपुरासुन्दरी के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस पर डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित द्वारा लिखित हिन्दी टीका का प्रकाशन 1983 ई.पू. में हुआ। विस्तृत संस्कृत व्याख्या अप्रकाशित है।

मन्दाक्रान्ता स्तोत्र : आचार्य महोदय ने इस अनुपम स्तोत्र का निर्माण भगवती शैलपुत्री के तीर्थ पर 1929 ई.पू. में कश्मीर मण्डल में बारामूला नामक कस्बे में किया। इस स्तोत्र में जगदम्बा की महिमा सहित इनके सभी अंगों के अद्वितीय सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। यह एक ओर से भगवान् दुर्वासाकृत "त्रिपुरामहिमस्तोत्र", "ललितास्तवरत्न" की तथा दूसरी ओर से शंकराचार्य कृत "सौन्दर्यलहरी" की एवं कालिदासकृत "कुमारसम्भव" की स्मृति कराता है। इनके शिष्य डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित ने हिन्दी अनुवाद

1.

सहित इसका प्रकाशन 1979 ई.पू. और दूसरा प्रकाशन 1980 ई.पू. में इनके शिष्य रामनन्द शास्त्री द्वारा विस्तृत हिन्दी टीका सहित किया गया है।

(ख) स्तोत्र ग्रन्थ

परशुराम स्तोत्रम् : आचार्य ने इसका निर्माण सन् 1932 ई.पू. में मार्तण्ड तीर्थ (मट्टन) पर काश्मीर मण्डल में किया था। आचार्य ने इस सुन्दर और श्रेष्ठ स्तोत्र में अनुष्ठान की विधि का वर्णन किया है, जिसके करने से मुकद्दमा, युद्ध, संघर्ष आदि में सफलता मिलती है। आचार्य की आज्ञा (प्रेरणा) से मट्टन में एक बार इसका अनुष्ठान किया गया, जिसके फलस्वरूप कोई भी विधर्मी आज तक इस पर अपना अधिकार नही जमा सका। इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन 1934 ई.पू. में हुआ। द्वितीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन 1940 ई.पू. में सोलन में हुआ और तृतीय संस्करण का प्रकाशन 1957 ई.पू. दिल्ली में हुआ।

त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम् : आचार्य ने दिल्ली में निज़ामुद्दीन रेलवे स्टेशन के पास स्थित मन्दिर में भगवान् शिवलिंग की स्थापना के अवसर पर उसकी प्रशंसा में 1966 ई.पू. में त्रिगुणेश्वर स्तोत्र लिखा था। इसका प्रथम और द्वितीय प्रकाशन क्रमश: 1966 ई.पू., 1983 ई.पू. में हुआ और हिन्दी टीका सहित 1984 ई.पू. में हुआ।

देवी स्तोत्रम् : यह स्तोत्र वियोगिनी छन्द में रचा हुआ भी अति सुन्दर और मनोहर है। इस स्तोत्र में रचना के देशकाल का कोई निर्देश नही किया गया है। इसका प्रकाशन जयपुर से आचार्य के द्वारा स्थापित संस्थान ने 1984 ई.पू. में प्रकाशित "आचार्य श्री अमृतवाग्भव: दर्शन स्मारिका" नामक ग्रन्थ में किया।

अमृतस्तोत्र संग्रह: : पूज्यवाद श्री आचार्य महोदय ने सन् 1982 ई.पू. में अपने माता-पिता के नाम पर दिल्ली में एक संस्था की स्थापना की जिसका नाम इन्होंने "विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान" रखा संस्थान के प्रचार मंत्री श्री रत्नलाल अग्रवाल ने सन् 1984 ई.पू. के आरम्भ में पूज्यवाद जी द्वारा निर्मित उन स्तोत्रों का एक संग्रह तैयार किया जो पुस्तकाकार में प्रकाशित नहीं हुए थे। डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित ने उन स्तोत्रों का अनुवाद हिन्दी में किया। दिल्ली वाले संस्थान ने उसे सन् 1984 ई.पू. में प्रकाशित किया।

(आ) धर्मशास्त्रीय, राष्ट्रवादीय, काव्यपरक एवं विविध रचनायें

(क) धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ

पवननन्दनाष्टकम् (मारूतिस्तोत्रम्) : हनुमानजी की स्तुति के रूप में अपने परिव्राजक जीवन के प्रारम्भिक काल में आचार्य द्वारा इसका निर्माण हरिद्वार में 1929 ई.पू. में किया गया। हिन्दी अनुवाद के साथ 1984 ई.पू. में दिल्ली में इसका प्रकाशन किया गया।

परशिवाष्टकम् : आठ श्लोकों वाले इस स्तोत्र में पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय ने उस समय की अपनी दयनीय दशा को भगवान् शिव को निवेदन किया है। इस स्तोत्र का निर्माण इन्होंने 1929 ई.पू. में ऋषिकेश में किया। इसका प्रकाशन सन् 1984 ई.पू. में हिन्दी अनुवाद के साथ "अमृतस्तोत्रसंग्रह" में किया गया।

बालकमांपाहि : यह एक अतीव लघुकाय देवी स्तोत्र है जिसे गीति काव्य की शैली पर सन् 1929 ई. पू. में कश्मीर मण्डल में साधु गंगा तीर्थ पर रचा गया। इसे भी हिन्दी अनुवाद के साथ "अमृतस्तोत्रसंग्रह" में प्रकाशित किया गया।

महागुरू श्री कृष्ण स्तोत्र : इस स्तोत्र में कविवर ने एक साथ ही भगवान् श्री कृष्ण सहित अपने पूज्य पिता श्रीकृष्ण शास्त्री वरकले की भी स्तुति की है। यह स्तोत्र बहुत सुन्दर है। अर्थश्लेष के होते हुए भी इसके प्रसाद गुण में कोई त्रुटि नहीं आने पाई है। इस स्तोत्र का निर्माण इन्होंने सन् 1930 ई.पू. में काश्मीर मण्डल के अनन्तनाग जिले में "काकोर्टनाग" नामक तीर्थ पर किया था हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन 1984 ई.पू. में हुआ।

बालकृष्ण दशकम् : आचार्य द्वारा इस स्तोत्र का निर्माण काश्मीर मण्डल के अनन्तनाग जिले में स्थित "ब्राह" नामक गाँव में 1930 ई.पू. में हुआ। द्रुतविलम्बित छन्द में रचित यह स्तोत्र अतीव श्रुतिमधुर है। इसमें आचार्य ने भगवान कृष्ण की उनके बाल रूप में दस श्लोकों में प्रशंसा की है। इसका प्रकाशन दिल्ली में सन् 1984 ई.पू. में हुआ।

रामाश्वघाटीस्तव: : आचार्यनुसार इस स्तोत्र का निर्माण कांगड़ा मण्डल में स्थित "शेराठान" नामक गाँव में 1931 ई.पू. में किया गया। इन्होंने इस स्तोत्र भगवान् राम की स्तुति की है, जिसे पढ़ने से सभी प्रकार की समस्याओं का हल हो जाता है। इस प्रकाशन "अमृतस्तोत्रसंग्रह" में 1984 ई.पू. में हुआ।

"प्रभोशम्भो प्रार्थना : आचार्य ने सन् 1933 ई.पू. में इस विनययुक्त श्लोक का निर्माण दैवी शक्ति की प्रेरणा से नालागढ़ (हि.प्र.) में किया था। यह इतना प्रसिद्ध है कि 1982 ई.पू. तक इसका पाँचवा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका था।

सप्तपदीहृदयम् : ऋषियों के आदर्श के अनुसार ब्राह्म आदि आर्योचित विवाह सप्तपदी की विधि के पूरा हो चुकने पर ही सम्पूर्ण माने जाते है। इसलिए विवाह के अनुष्ठान में सप्तपदी परम्परा का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसका निर्माण 1930 ई.पू. में किया गया। आचार्य द्वारा इसमें परिवार की भौतिक अभ्युन्नति के लिये क्रमशः अन्न, बल, धन-धान्य, सुख, पशुसम्पत्ति, काम-सुखसन्तति और सख्यभाव के परस्पर उपार्जन, वृद्धि, संरक्षण, वितरण आदि के लिये सात प्रगति रूपी प्रयोजनो का, उन प्रयोजनों के अनुकूलवर-वधु की परस्पर प्रतिज्ञाओं का तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक साथ भुःभूवा, स्वः, महः जनः, तपः और सत्य सात लोकों में क्रम से संक्रमण के संकल्पों का परस्पर संवाद रूप में सुन्दर वर्णन किया है। इसका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित 1940 ई.पू. में हुआ। तदनन्तर हिन्दी टीका और अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ इसका दूसरा संस्करण 1962 ई.पू. में भरतपुर में प्रकाशित हुआ।

आपूपिकेश्वर स्तोत्रम् : आचार्य ने भरतपुर में हलवाइयों द्वारा निर्मित मन्दिर में शिवलिंग की स्थापना के अवसर पर भगवान् शिव की स्तुति के रूप में यह लघुकाय स्तोत्र 1966 ई.पू. में रचा। इसका प्रकाशन 1984 ई.पू. में हुआ।

अवधूताभिवादनम् : इस स्तोत्र में अधिकतर अवधूतों का ही गुणगान किया गयाहै। आचार्य ने सन् 1953 ई.पू. में इस लघुकाय स्तोत्र का निर्माण किया। इसका प्रकाशन "अमृतस्तोत्रसंग्रह" में दिल्ली में 1953 ई.पू. में हुआ।

स्वाध्यायमहिम स्तोत्रम् : शिखरिणी छन्द में रचे हुए इक्कीस (21) श्लोकों का एवं एक शार्दूलविक्रीड़ित पद्य का संग्रह करके आचार्य महोदय ने सन् 1957 ई.पू. में इस स्तोत्र का निर्माण किया। पूज्यपाद आचार्य महोदय "श्री स्वाध्याय" के प्रत्येक अंक के लिए स्वाध्याय की प्रशंसा में कम से कम एक-एक श्लोक लिखकर भेजा करते थे। इसका प्रकाशन अनुवाद सहित सन् 1962 ई.पू. में जोधपुर निवासी श्री रमानन्द शास्त्री ने किया।

(ख) राष्ट्रवादीय ग्रन्थ

राष्ट्रलोक : राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थों में "राष्ट्रलोक" का नाम सर्वप्रथम आता है। इस स्तोत्र में राष्ट्र सम्बन्धी आवश्यक विषयों को व्यक्त करके दार्शनिक दृष्टि से उन पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य द्वारा इसका निर्माण सन् 1933 ई.पू. में किया गया था। इसमें कहा गया है कि राष्ट्रवादी ही आर्य हैं। आर्य ही शान्ति की स्थापना कर सकते है। "राष्ट्र हमारा पिता है, माता है और आचार्य है।" "भारत" भारतीयों का है।" स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम हमेशा के लिये उसके सेवक हैं। हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष दोनों देता है। हम सच्चे राष्ट्रीय हैं। अभारतीय भारत के अतिथि हो सकते हैं, राष्ट्रीय नहीं। हम सदा संक्रान्ति का आदर करते हैं। हमें ऐसी शान्ति नहीं चाहिए जो राष्ट्र को परतन्त्र बनाये। राष्ट्रीय राष्ट्र के पुत्र होते हैं, पति नहीं/भारती अपने को हिन्दू मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। भारतीय आदर्श के विपरीत क्रान्ति किंक्रान्ति है संक्रान्ति नही। इस प्रकार "श्री राष्ट्रालोक" परम पवित्र भारतीय आदर्श का एक जीवन शास्त्र है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन क्रमश: 1934, 1947 और 1949 ई.पू. में हुआ और इसका भाष्य अप्रकाशित है।

संक्रान्ति पञ्चदशी : यह एक भावपूर्ण खण्ड काव्य है। इस काव्य में राष्ट्रलोक में प्रतिपादित आर्योचित सत् क्रान्ति का अतीव मनोहर, सुन्दर और भावपूर्ण काव्यात्मक वर्णन किया गया है। आचार्य द्वारा इसकी रचना सन् 1946 ई.पू. में काश्मीर राज्य के मुजफ्फराबाद नामक पत्तन में की गई। इस राजनीतिपरक ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1970 ई.पू. में हुआ।

राष्ट्रसंजीवन भाष्य : आचार्य ने इसका निर्माण सन् 1936 ई.पू. में सोलन के शिवमन्दिर की धर्मशाला में स्वसंस्थापित "श्री स्वाध्याय सदन" नामक संस्था में किया। यही वह सुविस्तृत संस्कृत भाष्य है, जिसमें आचार्य ने अपने उपर्युक्त "राष्ट्रालोक" कृति की सुन्दर व्याख्या की है। इसमें राष्ट्र सम्बन्धी सभी विषयों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है, जोकि "राष्ट्र संजीवन भाष्य" के नाम से प्रसिद्ध है। राजनीति सम्बन्धी यह बहुमूल्य कृति अभी अप्रकाशित है।

(ग) काव्यपरक ग्रन्थ

अमृतसूक्तिपञ्चाशिका : इस कृति में काले हृदय और शरीरों को सफेद वस्त्रों से ढांपने वाले नेताओं

तथा चुनावों में व्यवहार में लाई जाने वाली दूषित पद्धतियों का अतीव रोचकढंग से वर्णन किया गया है। स्वतन्त्र भारत के शासकों और नेताओं की कुटिल नीतियों का और पारमेश्वरी लीलाओं को अभिव्यक्त करने वाली सुन्दर सुक्तियों का वर्णन किया गया है। इसका निर्माण सन् 1953 ई.पू. में हुआ। आचार्य द्वारा समय-समय पर लिखी गई धर्म, अर्थ, मोक्ष, पुण्य, पाप, दुर्जनता, ऋतुओं, सज्जनता, उत्सव एवं उपास्य देवताओं आदि के विषय में सुक्तियों में से शिखरिणी छन्द में निर्मित पञ्चास सुक्तियों का एक कृति के रूप में संकलन किया गया है। सन् 1953 ई.पू. में डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित ने हिन्दी टीका सहित इसका प्रकाशन किया है।

संजीवनी दर्शनम् : यह एक अतीव सुन्दर काव्य है, जिसमें हिमाचल प्रदेश के धार्मिक स्थानों, तीर्थ स्थानों और प्राकृतिक दृश्यों का अतीव मनोहर वर्णन किया गया है। इस काव्य में त्रैयम्बक विद्या की दीक्षा द्वारा मृत्युतुल्याव्याधि से छुटकारा प्राप्त होने की अपने जीवन पर आधारित सत्य घटना का वर्णन किया गया है। इस काव्य का निर्माण कुलगाँव नामक पत्तन में सन् 1962 ई.पू. में हुआ और इसका प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित भरतपुर में 1963 ई.पू. में हुआ।

देशिक दर्शनम् : आचार्य महोदय ने काश्मीर मण्डल में भगवान् दुर्वासा के साक्षात् दर्शनोपरान्त कुलग्राम नामक कस्बे में सन् 1962 ई.पू. में इस छोटे से काव्य का निर्माण किया। इसमें भगवान् दुर्वासा के वेशभूषा का, अंगों का और प्रकट होते हुए मनोभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का टीका सहित प्रकाशन सन् 1983 ई.पू. में हुआ।

(घ) विविध रचनायें

पिकप्रत्युक्ति : सन् 1928 ई.पू. से कुछ वर्ष पहले जब आचार्य महोदय जी अभी एक विद्यार्थी ही थे तब वाराणसी में संस्कृत विद्वानों ने एक कवि गोष्ठी का आयोजन किया था। उस गोष्ठी में सुनाई गई कविताओं को एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया था। आचार्य अमृतवाग्भव जी ने भी उस गोष्ठी में एक कविता सुनाई थी। यद्यपि उस पुस्तिका में केवल बड़े-बड़े विद्वानों की ही कविताओं का प्रकाशन हुआ तथापि एक अतीव मेधावी और सुयोग्य विद्यार्थी होने के कारण से पूज्यपाद आचार्य महोदय जी की कविता को भी उसमें स्थान मिल गया। इनकी यह कविता कोकिल दम्पति के परस्पर संवाद पर लिखी गई

है। उसका शीर्षक "पिकप्रत्युक्ति" अथवा पिक सन्देश है। यह कविता संभवतः इनकी उपलब्ध कृतियों में सबसे पुरानी (प्राचीन) कृति है।

बालाम्बास्तव: : यह पूज्यपाद आचार्य महोदय जी की इष्ट देवी बाला त्रिपुरा का स्तोत्र था जिसे उनके लिखे अनुसार सोलन के महेश वकील ने खो डाला। इसका निर्माण सन् 1929 ई.पू. में हुआ था।

श्रीकृष्णगीतदशकम् : इस स्तोत्र का निर्माण भी सन् 1929 ई.पू. में हुआ था। इस स्तोत्र के दस श्लोक हैं। जिसमें पूज्यपाद आचार्य महोदय ने अपने पिता एवं श्रीकृष्ण की साथ-साथ प्रशंसा की है। आचार्य के अनुसार यह रचना भी इनके शिष्य सोलन निवासी महेश वकील से खो गई थी।

वरकलवंशवृत्तम : इसका निर्माण आचार्य ने सन् 1936 ई.पू. में किया। आचार्य अमृतवाग्भव जी जन्म से महाराष्ट्री ब्राह्मण थे उनके वंश का मराठी नाम "वरकले" था। इन्होंने सन् 1930 ई.पू. में अपने पूर्वजों का एक विस्तृत इतिहास "वरकलवंशवृत्तम्" इस शीर्षक से लिखा। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। यह एक बहुत बड़ा विस्तृत ग्रन्थ है जिसे अधिकांश में अनुष्टुप छन्द में लिखा गया। इसमें कुछ अति प्राचीन विद्वानों का इतिवृत्त लिखा हुआ है। पिछली और वर्तमान दो शताब्दियों के अनेकों संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित्र पर इससे काफी प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ के साथ कई एक परिशिष्ट भी जुड़े हुए हैं। जिनसे आचार्य महोदय जी के निकट सम्बन्धियों, अध्यापकों, गुरूओं और मित्रों का परिचय मिलता है। अपने वंश के अनेकों पूर्वजों का इतिहास भी इसमें लिखा गया है। इसे इन्होंने श्रुति परम्परा से ही सुना था।

चारूसन्देश : यह एक छोटी सी कविता है, जिसका निर्माण पूज्यपाद आचार्य महोदय जी ने सन् 1944 ई.पू. में लायलपुर (पश्चिमी पंजाब) में किया था। वाराणसी में रहते हुये जब इनका विवाह हो गया, तो जगदम्बा की कृपा से स्थितियां ऐसी बन गई कि पत्नी के वास्तविक समागम हुए बिना इन्हें घर छोड़कर संन्यासी बनना पड़ा। इस चारूसन्देश को इन्होंने अपनी पत्नी के लिये लिखकर अनुवाद सहित उसे भेज दिया जिसका अनुसरण करके उसकी भी आध्यात्मिक उन्नति हो गई थी।

कृतघ्न मित्रं प्रतिपत्रम् : एक महानुभाव ने परम मित्र होते हुए भी एक ऐसा काम किया जिसे आचार्य महोदय जी ने महान विश्वासघात समझा। सन् 1948 ई.पू. में इन्होंने उस कृतघ्न मित्र के प्रति एक पत्र

लिखा जिसकी रचना श्लोकों में की गई है। इस छोटी सी कविता में उस कृतघ्न मित्र की व्याजस्तुति भी है और स्फुट फटकार भी हैं। यह कविता इनके कागज़ों में मिली है और इनकी अपनी कृतियों की सूची में भी इसका नाम और निर्माण काल दिए गए हैं। इसका प्रकाशन अभी नहीं हुआ है।

सूक्ति लहरी : इस शीर्षक वाला एक और सूक्ति संग्रह पूज्यपाद जी ने सन् 1956 ई.पू. में तैयार किया था। ऐसा इनकी लिखी ग्रन्थसूची से विदित् होता है, परन्तु यह संग्रह उनकी पुस्तकों और अन्य कागज़ों में अभी तक कही नहीं मिला। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि "श्री स्वाध्याय" में जो इनकी अनेकों सूक्तियाँ समय-समय पर "निवेदन" इस शीर्षक से प्रकाशित होती रही उन्हीं में से एक और संग्रह का संकलन इन्होंने इस नाम से किया होगा।

सिद्धमानव दर्शनम् : सन् 1963 ई.पू. में इस रचना का निर्माण हुआ, जिसमें आचार्य के 1930 ई.पू. में कश्मीर भ्रमण के बीच श्रीनगर में हरि पर्वत पर स्थित शारिका भगवती के सिद्धपीठ में शिवरूप सिद्ध के दर्शन एवं उस द्वारा बेध-दीक्षा से माया कुण्डलिनी के रहस्य के खुल जाने की घटना पर आधारित दृश्यों का सुन्दर वर्णन है।

असम्पादित् श्लोक संग्रह : यह संग्रह अस्त-व्यस्त क्रम में है। आचार्य महोदय की एक डायरी में 53 श्लोकों का एक संग्रह मिला जिन्हें सूक्तियों में गिना जा सकता है। हो सकता है कि उक्त "सूक्तिलहरी" इन्हीं श्लोकों का संग्रह हो।

आत्मपरिचय : यह भी एक छोटी सी कविता है जिसमें पूज्यपाद जी ने अपने जन्म का परिचय देकर पिछले चार जन्मों का उल्लेख किया है। इस कविता का प्रकाशन अभी नहीं हुआ है। इसके निर्माण काल का निर्देश इन्होंने नही किया है। नहीं यह लिखा है कि इसका निर्माण इन्होंने कहां किया।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त आचार्य महोदय द्वारा समय-समय लिखित, फुटकर श्लोकों, गज़लों, जीवन के संस्मरण, प्रशस्तियाँ, धर्म, अर्थ आदि विषयों, हिन्दी लेखों तथा सुदृढ़ शरीर, विचित्र विधान, प्रमाद, मल्लयुवा आदि की हिन्दी कहानियों का वर्णन भी मिलता है। इसलिए इससे सिद्ध होता है कि "अमृतवाग्भव आचार्य जी" न केवल एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और विद्वान् व्यक्तितत्व ही थे, प्रत्युत् एक महान सफल लेखक भी थे।

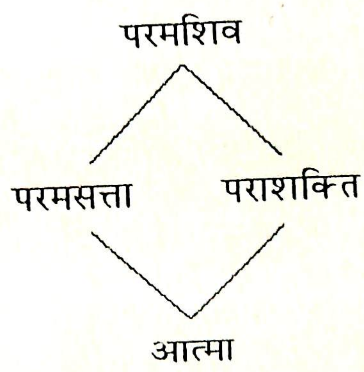
तृतीय अध्याय
आचार्य की कृतियों में प्रतिपाद्य विषय

आचार्य की कृतियों में प्रतिपाद्य विषय

आचार्य अमृतवाग्भव की कृतियों के गहन अध्ययन से पता चलता है कि उनकी पैठ न केवल दर्शन धर्म इत्यादि विषयों में थी। प्रत्युत् राजनैतिक विषयों में भी उनका दृष्टिकोण अनुभव एवं व्यावहारिकता पर आधारित है। उनकी शिक्षा सर्वसाधारण के उत्थान के लिए है। मानव समाज के सुचारू रुप से अग्रसर होने के लिए धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का सम्यक् आचरण अनिवार्य है। इन्हीं विषयों का यथामति विशलेषण इस प्रकार दिया जा रहा है।

(1). दर्शन विषयक : आचार्य का दृष्टिकोण कश्मीर अद्वैत शैव पर आधारित है। सर्वप्रथम इनको अपने पिता से श्रीविद्या का रहस्यात्मक मन्त्र मिलने से उन (भगवती) की कृपा से सांसारिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों का ज्ञान हुआ, तदनन्तर उनके अनुग्रह स्वरूप भगवान सिद्ध दुर्वासा का साक्षात्कार हुआ। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी गहन, लग्न, तपस्या, अनुभव और सत्तर्क के बल पर भी तथ्यों का यथार्थ विशलेषण किया। इन्ही अनुभूतियों का वर्णन इस प्रकार से किया जा रहा है :

I.



काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन में एक मात्र परमशिव की यथार्थ सत्ता मानी गयी है। वेदों में भगवान् शिव का शम्भू, मयोभव, शंकर, पशुपति, शितिकण्ठ, सोम, नीलग्रीव और रूद्र आदि विभिन्न नामों से उल्लेख हुआ है। शैव आगमों में इसे "भैरव" नाम से और इसकी शक्ति को "भैरवी" नाम से अभिहित किया गया है। वह प्रमाता और प्रमेय अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। शिव अनुभव कर्त्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव

करने वाला आत्मा तथा अनुभत होने वाला जगत् दोनों है। अपने स्वरूप में ही निहित अद्भूत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रुप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नही होता।[1]

शिव अनिर्वचनीय सत्ता है, क्योंकि निर्गुण होने से शिव का निर्वचन नहीं हो सकता। शिव तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) से परे निर्गुण निराकार है। मन-वाणी से अगम और अगोचर है। शिव को बुद्धि द्वारा नही जाना जा सकता, क्योंकि बुद्धि की सीमा है, जबकि शिव असीम है। बुद्धि गुणोत्पादित होने के कारण मायीय है तथा इसकी क्षमता सीमित है। इस प्रकार मानव-बुद्धि के लिए शिव अज्ञेय है। ऐसी स्थिति में समस्या उत्पन्न होती है कि शिव का स्वरूप विवेचन कैसे हो सकता है, जबकि वह अज्ञेय है। आचार्य के अनुसार आत्मा अनिर्वचनीय तेज है, वह स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान् है, अपने आप में ही सुतृप्त है, स्वतन्त्र है, अपने आपको ही मानने वाली है, अपने आप को ही करने वाली और स्वयं अपना मूल है।[2] वह एकमात्र प्रकाशात्मक है, विमर्श के द्वारा स्वात्मविमर्शन करना उसका स्वरूप है, वह सततोदित प्रशांत चित्तत्व है।

ब्रह्मा से लेकर एक छोटे से छोटे कीड़े-मकोड़े पर्यन्त जिसके विलास के अधीन हो कर रहता है अर्थात् प्रकाश-स्वरूप है। वह स्वयं प्रकाशरूप भगवान् अर्थात् षड्विधैश्वर्य सम्पन्न आत्मविलास-स्वरूप परमात्मा वस्तुतः स्वतन्त्र है,[3] तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ही एकमात्र सत्य तत्त्व है। शेष सब कुछ जोकि संसार में भासता है, सर्वथा मिथ्या न हों कर उसी के स्वातन्त्र्य का विलास है और उसी की स्वाभाविक परमेश्वरता की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है। सत्-असत्, चित्-अचित, आनन्द-अनानन्द ये सभी सापेक्षिक ही हैं और इनका आधार स्वतन्त्र परिपूर्ण परमसत्ता ही है। वह सर्वथा अभिनवरमणीय है। सभी के हृदय में विराजमान

---

1. तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न सावस्या न या शिवः।
   भोक्तैव भोग्य भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।। -स्प.-का., 2/4
2. स्वभासाय स्वतृप्ताय स्वतन्त्राय स्वमानिने।
   स्वकारिणे स्वमूलाय कस्मैचिन्महसे नमः।। -प.शि.स्तो., श्लो. 5
3. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशाऽनुगम्। स्वप्रकाशः स भगवान स्वतन्त्रः परमार्थतः।। -आ.वि., 3/3

परमेश, मङ्गलों का मङ्गल और अनुभव का सुरहस्य है। परमात्मा के ऐश्वर्य अथवा स्वातन्त्र्य को नित्य उदित परावाक् कहते हैं। तत्त्वज्ञ इसी को विमर्शात्मा चिति के नाम से जानते हैं। यह शब्द तत्त्व, सृष्टि के प्रसार की आदि कोटि है और सृष्टि संकोच दशा में चरम कोटि। शिव, प्रकाशात्मा चिति हैं। वस्तुतः दोनों अविनाभूत है। अविभक्त अथवा अन्तर्लीन विमर्शात्मक शिव को ही परमशिव कहते हैं, यह निष्फल दशा है। प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वभाव भगवान् परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से रूद्रादि प्रमाताओं तथा नीलसुखादि प्रेमयों के रुप में प्रकाशित होते हैं। यह प्रकाशन अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान भासित होता है। इस स्थिति में भी स्वरूप का आच्छादन नहीं होता। यही संवित्स्वरूप शिव को स्वातन्त्र्य की महिमा है। प्रतिभिज्ञादर्शन के अनुसार विश्व का विकास, चिति, परावाक् और पराशक्ति जो एक दूसरे तथा परमशिव के साथ एकात्मना अवस्थित है, का ही क्रियाकौतुक है। अभिनवगुप्त शिव के विषय में जो कुछ भी कहते हैं, शिव उससे परे है। हम अपनी बुद्धि द्वारा जितना जानते है, वही कहते हैं। दूसरे शब्दों में, यों कहा जा सकता है कि हम शिव के विषय में जो भी कहते है, वह अपने शिव (अर्थात् बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत) के विषय में कहते हैं, वास्तविक शिव इससे परे हैं।

शिव की सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपनी सत्ता के लिए शिव (आत्मा) पर निर्भर है। शिव आत्मा ही है तथा आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है,[1] ज्ञाता, कर्ता और स्वयं आत्मा के निराकरण में, निराकरण कर्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता।[2] यहां आक्षेप हो सकता है कि आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु इस आधार पर कैसे मान लिया जाये कि आत्मा ही शिव है? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक कहते है कि यह बात आगम द्वारा ही प्रमाणित होती है। अद्वैतवादी आगमों में शिव और आत्मा का तात्त्विक भेद नहीं माना गया है। समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव हैं। परमार्थतः बाह्य जगत् में ग्राह्य और ग्राहकादि भेद नहीं हैं, विश्वगत अनन्त वैचित्रय रुप में वही एक तत्त्व स्फूरित हो रहा है।[3]

1. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिप्रः सिद्धः। तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिप्रः सिद्धः।
   तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिप्रः सिद्धः। स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।।
   नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, –तं.आ. 1/56

2. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धेमहेश्वरे। –ई.प्र.वि. पृ. 13

3. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकधनस्य... अखिलं अभेदेनैव स्फुरति। –प्र.भि.हृ., पृ. 13

शिव चित् स्वरूप हैं। शिव का कोई रुप अथवा आकार नही हो सकता क्योंकि जड़ पदार्थ के रुप अथवा आकार होते हैं, चेतना का रुप अथवा आकार नही होता। परमतत्त्व परिपूर्ण और सर्वसम्पन्न सत्ता हैं, जो सब कुछ है तथा सभी सीमित वस्तुओं से परे और समग्र सत्ता भी हैं। शिव आत्म रुप होते हुए भी परमसत्ता हैं; क्योंकि वह निराकांक्ष एवं सभी बद्धताओं से स्वतन्त्र सत्ता है। अभिनवगुप्त के अनुसार शिव अथवा चित् मूलतः स्वयं प्रकाशरूप हैं, यदि यह किसी दूसरी वस्तु से प्रकाशित होती, तो चेतना-चेतना न होती। इसलिए यही माना जाता है कि चेतनारूप सत्ता ही स्वयं को प्रकाशित करती हैं। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में आत्मचेतना नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार आत्म ज्ञान के लिए द्वैत का होना आवश्यक हैं। जिसके विरूद्ध आत्मचेतना हो। परमतत्त्व की आत्मचेतना सम्बन्धी यह अवधारणा वास्तव में आत्मा का अनात्म से भेद पर आधारित हैं। ब्रह्म शुद्ध अद्वैत हैं, जिसके अतिरिक्त अन्य की सत्ता नहीं है। इसलिए उसे अपना ज्ञान नहीं होता। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अनात्म का बोध केवल अपने को अन्य से अलग करने के लिये आवश्यक हैं। केवल अपने अस्तित्त्व बोध के लिये अनात्म का बोध आवश्यक नही हैं। यहां क्रिया आवश्यक है। शिव में शक्ति क्रिया रुप है, जिससे उसे आत्म चेतना होती हैं।

आचार्य द्वारा एक ही सद्रूप आत्मा कर्तृत्वादि शक्तियों का अभिन्न सञ्चालक अपने विलास से अपने आनन्द के लिये अपनी चिद्रूपता का विमर्श करता है।[1] अर्थात् मै चिद्रूप हूँ, इसी बात को इन परस्पर विरोधी कर्तृत्वादि शक्तियों से उनका स्वरूप होता हुआ ही जतलाता है। प्रसिद्ध शैवाचार्य उत्पलदेव ने भी इसी प्रकार कहा है कि परमशिव सर्वथा और सर्वदा संविद्रूप ही होता है। कभी भी असंविद्रूप नही होता। जड़ वस्तुओं के आकार में अवभासित होता हुआ भी वस्तुतः संविद्रूप ही होता है। जड़ वस्तु की सत्ता भी तो तभी सिद्ध होती है, जब चेतन प्राणी की संवित् के भीतर उसका आभास हो,[2] तो चेतन प्राणी की संवित् में आभासित होता हुआ जड़ पदार्थ भी आभासक्षण में चेतन ही होता हैं, क्योंकि

---

1. आत्मक एव सद्रूपः कर्तृत्वादिवशादयम्। चिद्रूपत्वं पत्वं विमृशति स्वानन्दाय विलासतः। आ.वि., 2/12

2. एव मात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जड़ाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।। -अ.प्र.सि., श्लो. 13

संवित् ही तो उस जड़ पदार्थ के रूप को धारण करती है। यदि ऐसा न होता तो जड़ का आभास होता ही नही, क्योकि आभास होना संवित् ही का स्वभाव है, जड़ का नही, तो व्यवहार मे भी प्रत्येक चर और अचर वस्तु वस्तुत: संवित् स्वरूप ही होती है। यद्यपि अज्ञान में डूबे हुए प्राणियों को ऐसा प्रतीत नही होता। (अस्तु) तो संवित् स्वरूप परमशिव सदैव संवित् ही है, और कुछ नहीं है, यही उसकी शुद्धता है। परमशिव सर्वदा, सर्वत: और सर्वथा असीम है। फिर वह सदा परिपूर्ण है। यह जो कुछ भी आभासित होता है, चाहे प्रमाता के रुप में, चाहे प्रमेय के रुप में, चाहे प्रमाण के रुप में वह सारे का सारा उस शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व सापेक्ष भावों से अस्पृष्ट एवं उनमें व्याप्त होने से उनकी अधिष्ठान रुप पूर्ण कर्तृता व्याप्त होती है।[1]

भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिनन-भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार एक ही आत्मा (परमसत्ता) के ब्रह्म, परमशिव, परासंवित्, स्वभाव, सोम, पुरूष, भगवान कर्त्ता, बुद्ध, जिन और गरू इत्यादि नाम संज्ञित किये गये है। आचार्य के अनुसार इनसे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। प्रत्युत् सभी दर्शनों की अन्तिम भूमि उसकी आनन्दस्वरूपिणी विद्या समझ कर सर्वथा स्तुत्य है। वह परमेश किसी भी रुप से हो, किसी भी नाम से हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता,, क्योंकि वह सभी नामों और रुपों तथा इनकी प्रवृत्तियों के निमित्तों, गुणों और क्रियाओं का एकरस निदानभूत है, अर्थात्-सभी का मूल कारण वहीं है, क्योकि प्रत्येक वस्तु का अविर्भाव उसी से होता है।

आत्मस्वरूप का विलास ही पण्डितों से शक्ति नाम से पुकारा अथवा वर्णन किया जाता है, यह विलास ही शिव और शक्तिरुप धारण कर सम्पूर्ण व्यवहार करने के लिये समर्थ होता है। अर्थात् इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के जीवनसूत्र का सूत्रधार शिवशक्ति स्वरूप विलास ही है,[2] परमशिव अपनी लीलामयी स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने ही आपको जीव रूपता

---

1. यथा सङ्ख्यातिगा सङ्ख्या परात्मन्येकरूपिणी।
कर्तृताऽकर्तृताऽस्पृष्टा तथेयं पूर्णकर्तृता।। -आ.वि., 6/22

2. सोऽयं विलास एवाऽस्य शक्तिरिप्युदितो बुधैः।
शिवशक्तिस्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते।। -आ.वि., 2/2

से प्रकट करता रहता है। जिस प्रकार दर्पण में नील, पीत आदि विविध वर्णों का आभास मात्र होने से दर्पण में कोई विकार नही आता, उसी तरह से परमशिव अपने भीतर कोई विकार न लाते हुए ही जीविता को प्रतिबिम्ब की तरह स्वयं अपने विलास से प्रकट करता रहता हैं, यही जीवता के अवभास का कारण है, इसे प्रकट करते रहने पर भी उस परमशिव में कोई विकार नही आता हैं। वह जगत् के प्रकट होते रहने पर अथवा न होते रहने पर भी सदैव अपने स्वरूप में ही ठहरा रहता हैं। उस परिपूर्ण स्वतन्त्रता की महिमा है। जीवता और शिवता भी निश्चय से सापेक्ष ही हैं और यह निश्चय से झूठी भी हैं, क्योंकि यह कल्पित हैं। अपने आप आत्मविलास-स्वरूप ही ऐसी कल्पना करता है।[1] तात्पर्य यह हैं कि दोनों सापेक्ष भाव कल्पित है, अतएव असत्य भी है और इनका मूल आत्मविलास-स्वरूप अपने आप परमात्मा ही हैं। इसी प्रकार आचार्य ने परमसत्ता को "शाक" से सम्बोधित किया जानासर्वथा युक्तिसंगत माना है, क्योंकि यह प्रत्यक्षत: सामर्थ्य का द्योतक हैं। इनके अनुसार जो महानुभाव श्रुति-स्मृति द्वारा उपदिष्ट पाँच महायज्ञों के द्वारा विश्वेदेवों का यजन करते है, इसमें कोई सन्देह नही, कि अन्त में वे भी "शाक" में ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पंच महायज्ञों के द्वारा देवताओं, ऋषियों, पित रों, मनुष्यों और भूतों को तृप्त करने वाले वर्णाश्रम-धर्म के उपासक पितृयान गति से स्वर्ग सुखों का भोग करते है और देवयान गति से उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति करते हुए अन्ततोगत्वा ब्रह्म में विलीन हो जाते है। ब्रह्म का स्वरूप ही समस्त दिव्य शक्तियों का एकधन तत्त्व हैं। उसी दशा को वे प्राप्त हो जाते हैं, "शाक" में रमण करने की इच्छा से कोई साधक ब्रह्मा आदि कारणों का पालन करने वाली, कपाल धारिणी, ककार-लकार सहिता और ककार-लकार रहिता, बीजाक्षरमयी भगवती कामकला की कलना कुलाचर की युक्ति के द्वारा करते है।[2]

शिव की क्रियारूपता को ही शक्ति कहा जाता है। वेदों में परम पुरूप के ब्रह्म और शक्ति दो रूप माने गये हैं। उपनिषदों के अनुसार तो सारा संसार शक्ति निर्मित है। चराचर

---

1. जीवता शिवता चैव सापेक्षा स्वविलासत:।
अपारमार्थिकी नूनं कल्प्यते स्वात्मनैव हि।। -आ.वि., 3/8

2. सकलां निष्कलां कामकलां केचित् कपालिनीम्।
कल्यन्ते कुलाचारयुक्त्या शाकरिंसया।। -स.म.र., पृ. 74

विश्व के सभी पदार्थों का आदि और अन्त वही महाशक्ति है।[1] जगत् के सारे पदार्थ उसी के रूप है।[2] अत: वही महाशक्ति परमेश्वर है, जो सर्वभूतों में मातृ एवं शक्ति रूपेण संस्थित है।[3] भौतिक विज्ञान में ताप, विद्युत, प्रकाश और चुम्बकत्व आदि शक्ति के विविध रूप माने गये हैं। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्रीरूप में माना गया है और उसी को शक्ति अथवा पराशक्ति कहा गया है। पराशक्ति को मातृका शक्ति भी कहते हैं, तदनुसार "अ" से लेकर के "क्ष" पर्यन्त सभी तत्त्वों का विकास इसी से होता है।[4] जो इस प्रकार हैं :-

1. अ = शिव, 2. क = शक्ति, 3. ख = सदाशिव, 4. ग = ईश्वर, 5. घ = शुद्धविद्या, 6. ङ = माया, 7. च = कला, 8. छ = अविद्या, 9. ज = राग, 10. झ = काल, 11. ञ = नियति, 12. ट = पुरूष, 13. ठ = प्रकृति, 14. ड = अहंकार, 15. ढ़ = बुद्धि, 16. ण = मन, 17. त = श्रोत्र, 18. थ = त्वक्, 19. द = चक्षु:, 20. ध = जिव्हा, 21. न = घ्राण, 22. प = वाक्, 23. फ = पाणि, 24. ब = पाद, 25. भ = पायु, 26. म = उपस्थ, 27. य = शब्द, 28. र = स्पर्श, 29. ल = रुप, 30. व = रस, 31. श = गन्ध, 32. ष = आकाश, 33. स = वायु, 34. ह = वह्नि, 35. ल = सलिल, 36, क्ष = भूमि।

मातृका शक्ति को परावाक् भी कहते है, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में विकसित होती है। शैवाचार्य "अ" से शिव एवं "ह" से शक्ति अभिप्राय लेते है और इन दोनों का सामरस्य रूप "म" अर्थात् अहं से मानते हैं। "अ" प्रकाश रूप है और "ह" विमर्श रूप है।

आचार्य के अनुसार पराशक्ति ही गुरूओं के भी मूल गुरू भगवान् शिव भट्टारक की कला है, जिससे वह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणरूपी त्रिकोणमय इस समस्त प्रपञ्च की सृष्टि,

1. सर्वं शाक्तम् अजीजनत्। -बहद् उप., पृ. 1
2. ईशावास्यमिदं सर्वं यतकिञ्चि जगत्यां जगत्। -ईशा. उप., पृ. 88
3. या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता। -दु.सप्त., 71,72,73
4. आदिक्षान्तप्रलयविलसद्धामरूपां भजन्ते।
   ब्रह्मारामा भजनचतुरा: केचिदेवाऽत्रधन्या:।। -म. क्रा. स्तो., पृ. 36

संहार आदि की कलना अर्थात् आभासला करता ही रहता है। यह पराशक्ति ही सर्वोत्कृष्ट एवं अद्वितीय हैं, क्योंकि इसी की महिमा से शिवगुरू परमेश्वर है। शास्त्रों के अनुसार ही इसे शिवसूत्रादि आगम कुमारी कहा गया हैं, क्योंकि समस्त प्रपञ्च को जन्म देती हुई भी उनसे उत्तीर्ण एवं अस्पर्शित भाव से स्थिरतया ठहरी रहती है।[1] पुनः उस शिव गुरू के लिये यह सदैव कमनीया भी है, तभी तो शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि भगवान् शिव अपना प्रभाव तभी जमा पाता हैं, अर्थात् सृष्ट्यादि करने में तभी समर्थ होता हैं, जब वह शक्ति से युक्त होता है। यदि वह ऐसा नहीं होता तो वह जरा भर स्पन्दन भी नहीं कर सकता।[2] पारमेश्वरी पराशक्ति के अनेक प्रकार के विलास हैं, सिद्ध-धर्माचार्य ने "पञ्चस्तवी" में इस पराशक्ति के अद्भुत विलास का निरूपण करते हुए कहा है कि जब भगवती अपने व्यक्त स्वरूप को सङ्कोच में ले आती है तब नाम रूपादि से परे ठहरी हुई वह वाणी एवं तर्क का विषय नहीं बन सकती अर्थात् वाणी एवं तर्क से उसका पार नहीं पाया जा सकता। पुनः जब वह बहिर्मुख विकास को प्राप्त हो जाता है, तब उसके असंख्य नाम एवं रूप हो जाते हैं।[3] वास्तव में परमेश्वर की अभिन्न रूपा इस पराशक्ति में समस्त चराचर जगत् सूक्ष्मतम रूप में समाया रहता है, जैसे विशाल वट वृक्ष का रूप, रंग, आकार आदि उसके बीज में सूक्ष्म रूप से समाये रहते है।[4] अतः इसी से जगत की सृष्टि, स्थिति एवं संहारादि होता है। यही पराचिति, आनन्द-भैरवी, महाभैरवी परामातृकादि नामों से संज्ञित होती है। देश, काल एवं आकार आदि से सर्वथा अविज्ञेय एवं प्रमाणादि से अवर्णनीय हैं। नित्य एकरस एवं स्वरसोदिता हैं। परमानन्दस्वरूपिणी एवं परमकल्याणमयी हैं।

परमसत्ता की अनन्त शक्तियां है, जिनमें से मुख्य पाँच - चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मानी गई है। जो इस प्रकार है :

---

1. "इच्छाशक्तिरूमा कुमारी।" शि. सू., 1/13
2. "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
   न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।" -सौ. ल., श्लो. 1
3. सङ्कोचमृच्छसि यदा गिरिजे तदानीं वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा।
   यद्धा विकासमुपयासि यदा तदानीं त्वन्नामरूपगणनाः सुकरीभवन्ति।। -पं. स्त., 4/22
4. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
   तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्।। -पर.प्र., श्लो., 34

चित् शक्ति

परमसत्ता की प्रकाशरूपता को ही उसकी चित् शक्ति कहते हैं।[1] आचार्यानुसार परमेश्वर की चित् शक्ति उसका नैसर्गिक स्वभाव है। अतः वह उसके लिए "नैसर्गिकी" है। वही विसर्ग को अर्थात् सृष्टि आदि पाँच पारमेश्वरी कृत्यों को करने वाली उसकी "वैसर्गिकी" शक्ति भी हैं। वह परा चित् शक्ति अद्वितीय महिमा वाली हैं। वह उसकी सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। इस सृष्टि से पहले भी और इसके पश्चात् भी तथा भावसंसर्गमयी इस (सांसर्गिक) मध्यवर्तिनी दशा में भी वह सर्वत्र सदा परिपूर्ण ही बनी रहती है।[2]

चेतना का स्वरूप ही शक्तिरूप है, अतः इसे चित् शक्ति कहा जाता है। चेतना की इस विशेषता के कारण ही शिव को स्वप्रकाश तथा आत्म-चेतना से युक्त कहा जाता है। इस शक्ति से ही परमतत्व अपने को प्रकाशित करता है तथा इस प्रकाश स्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है और इसी प्रकाशरूप आश्रम में विश्व के समस्त तत्त्वों का प्रकाशन होता है।

आनन्दशक्ति

परमेश्वर की आनन्द शक्ति नाम की दूसरी अन्तरङ्गशक्ति के स्वरूप पर इस तरह से प्रकाश डालते हुए आचार्य ने कहा है कि परिपूर्ण अहन्ता के विमर्श से जिसने विश्वात्मक समस्त पदार्थों को भर रखा है, फिर अपने चमत्कारात्मक स्वरूप के विमर्शन अर्थात् बोधाभिनन्दन के प्रभाव से ही जो अपने आप से अभिन्न समस्त ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को "अहं" रूप अपने आप से बाहिर भी उछाल दिया करती है और इस तरह से उसे बाह्य जगत् के रूप में चमका देती है। परमेश्वर की वह आनन्दशक्ति क्लेश आदि से रहित होने से अपने शान्त स्वरूप में सदैव ठहरी रहती हुई भी धोरतर और धोरतम स्वरूपों को लेकर के इस सृष्टि संहार आदि प्रपञ्च के रूप में भी प्रकट होती ही रहती है।[3]

---

1. "प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।" -तं.सा., पृ. - 6

2. प्राक् सर्गतोऽपि परतोऽपि च मध्यदेशे सांसर्गिकेऽत्र सकले परिपूर्णरूपा।
नैसर्गिकी परशिवाकृतिबिन्दुबीजं वैसर्गिकी जयति शक्तिरनन्तवीर्या।। -महा.भ.स्त., श्लोक - 2

3. अस्मीतिमात्र-भरिताखिल-विश्व-भावाबोधाभिनन्दन-समुच्छलितात्मरूपा।
शान्तापि धोरतर-धोरतम-स्वरूपैर आभाति सङ्कलित-पञ्चविध-प्रपञ्चा।। -वही - श्लोक - 3

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन अनुसार आनन्द भी स्पन्दन या क्रियारूप हैं। इस शक्ति के द्वारा ही शिव आनन्दमय है तथा आनन्द की अनुभूति भी करता है। इसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है।[1] यह परम इच्छा है जो बिना किसी ब्राह्म वस्तु की सहायता के सब कुछ करने में समर्थ है। प्रकाशरूपता का विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है जिससे आत्मा पर-निरपेक्ष[2] होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है, पर-निरपेक्ष आत्म-पूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है।[3]

आनन्द शक्ति की अवस्थिति में परमशवि शक्ति से अभिहित होता है। चित् और आनन्द को शिव का स्वरूप ही कहा जा सकता है क्योंकि चित् अंश शिवभाव है और आनन्द अंश शक्ति भाव है। चित् अंश और आनन्द अंश का सामस्य ही परमभाव है। यह अवस्था परमशिव कही जा सकती है। इस अवस्था में किसी एक अंश को पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि चित् आनन्द स्वरूप है और आनन्द बिना चित् के नहीं रह सकता।

इच्छाशक्ति

यह शक्ति परतत्त्व की पराशक्ति की विश्लेषणमात्र है। अतः ये उसकी अतीव अन्तरङ्ग शक्ति है। आनन्दशक्ति ही जब लहरें मारती है, तो इच्छा शक्ति के रूप को धारण करती है। **शिव की सर्जनात्मक इच्छा का स्फुरण ही इच्छा शक्ति है। इसके द्वारा शिव अपने** आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है।[4] इस इच्छा शक्ति से ही परमेश्वर विभिन्न जातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूपों में आत्म-अवभासन की इच्छा करता है। इस अवस्थिति में परमशिव सदाशिव नाम से अभिहित होता है। इस इच्छा नाम की शक्ति का निरूपण करते हुए आचार्य ने कहा है कि कलना अवभासन करने की क्रिया को कहते हैं। परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से भेद में भी अभेद का अवभासन चमका देता है। उसकी यह कलनात्मिक्रा शक्ति स्वतन्त्र है। यह किसी भी वस्तु अथवा नियम के अधीन नहीं है। इसे किसी माया जैसी उपाधि की भी आवश्यकता

---

1. "स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।" -तं.सा., आ. - 1
2. "अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः।" -ई.प्र.वि., 1, पृ. - 207
3. "स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो।" -शि. दृ. वृ., पृ. - 6
4. "तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः।" - तं. सा., पृ. - 6

नहीं। यह अपने स्वातन्त्र्य से ही उपर्युक्त असम्भव बातों का भी अवभासन करती रहती है। परमेश्वर की इस कलना करने की सामर्थ्य को ही शास्त्रों में काली कहा गया है। यह काली ही वस्तुत: चित् नाम की पराशक्ति है वही अपने आनन्दमय स्वभाव से बहिर्मुख स्पन्दन करती हुई सृष्टि संहार आदि का अवभासन करने की उमङ्ग बन जाती है। सिसृक्षामयी उस परमेश्वरी उमङ्ग का नाम इच्छा शक्ति है।[1]

ज्ञानशक्ति

परमशिव की इच्छा शक्ति जब ज्ञयेता धारण करती है अथवा कार्योन्मुखी होती है तो उसकी प्रकाशन शक्ति ज्ञानशक्ति से अभिहित होती हैं।[2] परमशिव स्वयं ज्ञाता, ज्ञये तथा ज्ञान स्वरूप है। शिव की सिसृक्षा का जब शिव को ज्ञात होता है तो इस अवस्थिति को ही ज्ञान शक्ति कहते हैं।[3] इस अवस्थिति में शिव ईश्वर से अभिहित होता है। "महानुभवशक्तिस्तव:" में वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह सारे का सारा सुविशाल संसार परमेश्वर की क्रिया शक्ति की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का परिपूर्ण विकास है। अत: इसे क्रिया के प्रचय अर्थात् वृद्धि की पुष्टि कहा गया। जितना भी "क्रिया के प्रचय की यह पुष्टि" है उसका निदान, अर्थात् बीजभूत कारण परमेश्वर की ज्ञान शक्ति ही है जो क्रियाशक्ति के रूप को अपने बहिर्मुख स्पन्दन के द्वारा धारण करती है। यद्यपि ज्ञान और क्रिया की स्थिति इच्छा रूपी बीज में प्रकट होने वाले दो दलों की जैसी ही हुआ करती है फिर भी ज्ञान में सृष्टव्य जगत् का धीमा सा आभास होता है और क्रिया में वह आभास स्फुटता को प्राप्त करता है। अत: जगद्विकास की दृष्टि से ज्ञानशक्ति का स्थान इच्छाशक्ति के पश्चात् और क्रियाशक्ति से पहले माना गया है।[4]

---

1. यस्या:स्वतन्त्रकलनाकलिता विचित्रा ज्ञानावलीवलयमूलमतीव सूक्ष्मा।
इच्छाभिधा हृदि इगित्यवभासमाना नित्या विराजतितरां शिवभूतिभूता।। महा.भ.स्त., श्लोक-4
2. परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञान। -शि.दृ.वृ., पृ. - 18
3. आमर्शात्मकता ज्ञान शक्ति:। -तं. सा., पृ. - 6
4. यावत्-क्रिया-प्रचय-पुष्टि-निदान-भूता ज्ञानभिधा शिवतनु:श्रुति-शास्त्र-मूलम्।
इच्छाविकास-फलितं हृदयं क्रियाया:सर्वत्र या विजयतेऽवतु सा समस्तम्।। मह. भ. स्त., श्लो. - 5

क्रियाशक्ति

आचार्य ने परमेश्वर की क्रियाशक्ति पर इस तरह से प्रकाश डालते हुए कहा है कि ब्रह्मा से लेकर कीट-पतङ्गा तक के सभी प्राणी चेतना की स्पन्दनात्मिका क्रिया का अनुभव अपने आप ही अपने-अपने हृदय में करते रहते हैं, क्योंकि सभी अपने आपको और अपनी निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता को जानते ही रहते हैं। चेतना की यह स्वात्म-विमर्शन-रूपिणी क्रिया किसी छोटे अथवा बड़े प्राणी में नहीं चलती रहती है ? फिर यह चैतन्य के अनुग्रह से शरीर, इन्द्रिय, अन्त:करण जैसे जड़ पदार्थों में भी आविष्ट होकर वहां स्फुटता से अभिव्यक्त चैतन्य के रूप को लेकर के शोभायमान होती रहती है। परम्परयाजड़ कार्य द्रव्य भी क्रियावान् बनकर शोभा पाते हैं।[1]

इच्छा शक्ति ही जब क्रियारूप में बाह्य प्रकट हो जाती है तो क्रिया शक्ति कही जाती है। इस शक्ति के कारण शिव कोई भी रूप अभिव्यक्त कर सकता है। मालिनीविजयोत्तर वार्तिक में कहा गया है कि परम-शिव जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मक भाव से नाना पदार्थों का भेद अवभासन करता है उस "भासना" को ही शास्त्रों में क्रिया शक्ति कहा गया है।[2] यह समस्त विश्व क्रिया शक्ति का ही स्वरूप है।[3] इस अवस्थिति में परमशिव सद्विद्या से अभिहित होता है।

अमृतवाग्भव अनुसार पारमेश्वरी पराशक्ति पाँच शक्तियों के भावों को अर्थात् तद्रूपिणी सत्ता को लेकर के अतीव सुभगा बनी रहती है। यदि इन भावों को लेकर के नहीं चमकती रहती तो उसका सौन्दर्य ज़रा भर भी नहीं निखर सकता अत: चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप पाँच शक्तियों के सामरस्य से सुभगा है।[4] इसलिये पराशक्ति के इन पाँचों रूपों

---

1. आब्रह्म-कीट-हृदयेष्वनुभूयमाना सर्वेषु कार्यकरणेषु विराजमाना।
   शाम्भो:प्रसिद्धतम-वर्ष्म-विकासभूमि: प्रीणातु सन्ततमियं सुभगा क्रियाख्या।। वही -, श्लोक - 6
2. "भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।" मा.विज., 1/9-10
3. "क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फार:।" -ई.प्र. वि. भा. 2, पृ. - 42
4. चिन्दानन्दशंसा-विदिकृतिमयीं भावसुभगा। कला धन्या कन्या जयकृतिरनन्या शिवगुरो:।
   दधानैन्द्रीं भूतिं हिमकिरणशौक्लीं तनुरूचिं प्रभां सौरीं सोमामृतकवलिनी पातु जयिनी।। मह.भ.स्त., श्लो. 7

से सम्पन्न परमशिव अपने आप समस्त विश्व को अभिव्यक्त करते है। वस्तुतः यह जगत् शिव की शक्ति ही का विस्तृत रूप है,[1] जिसे परमशिव ने अपने में स्वेच्छा से अभिव्यक्ति किया।[2]

प्रत्येक प्राणी के हृदय में अपरिमित परम सत्ता विद्यमान है, जिसकी अनुभूति वाग्भवबीज, कामराजबीज और शक्तिबीज के द्वारा सम्भव होती हैं। अर्थात् ऐसी वस्तु परमेश्वर है। वह सदा अपने चित्-प्रकाश से सदैव प्रकाशित होता ही रहता है। तभी तो प्रत्येक प्राणी स्वयमेव अपने आपको "मैं" इस रूप में जानता है। बीजमन्त्र "ऐं" आदि होते हैं। उनकी माता पारमेश्वरी पराशक्ति हैं। प्राणियों की इन्द्रियों का और उनके अन्तः कारणों का अन्तः सञ्चालन करने वाली प्रेरक शक्तियां "योगिनी" नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राणियों के समस्त ज्ञानमय और क्रियामय व्यवहार उन्हीं की अन्तः प्रेरणा से हुआ करते है, गुरू कृपा से इस बीजों के अभ्यास से मन वाञ्छित फल की प्राप्ति रहती हैं। इसी प्रकार धर्माचार्य ने कहा है कि परमसत्ता, आप वस्तुतः एक होती हुई भी नदी की तरह अनेक रूपों में देखी जाती है। परमसत्ता को भगवती त्रिपुरा के रूप में भी एक नित्य शक्ति माना गया हैं। जिसको पुरूष की षोड़शी कला होने के कारण अमृतकला एवं ललित-विग्रह होने के कारण ललिता भी कहा गया है। सर्वोपति होने के कारण इन्हें राजराजेश्वरी और अवर्णनीय अथवा बुद्धि से भी परे होने या वर्णसमाम्नाय की अधिष्ठात्री होने के कारण परामट्टारिका भी कहा गया हैं। प्रणवरूप मूल-त्रिकोण में रहने के कारण ही "प्रणवत्रिकोणनिलया" कहा जाता है और त्रिकोण का सूक्ष्मतम स्वरूप होने के कारण विद्याराज्ञी अथवा बालाम्बा कहा गया है। प्रणव-त्रिकोणादि भी इनके स्थूल-निग्रह ही है, क्योंकि उनमें रहती हुई भी ये उनसे परे हैं, अतः इन्हें तुरीय कहा जाता है। योगशास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी रूप से भगवती उपासना ही ब्रह्म उपासना है।

प्रसिद्ध शैवाचार्य राजानक क्षेमराज ने भी कहा हैं कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की अधिष्ठात्री यह महाशक्ति ही है। इन्होंने इसे चिति, स्वतन्त्रता[3] आदि शब्दों से सम्बोधित किया है, जो

---

1. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।" -शि. सू., 3
2. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमन्मीलयति।" -प्र. हृ. स., 2
3. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।" -प्र. हृ., सूत्र - 1

सर्वत्र व्याप्त एवं पूर्ण स्वतन्त्र है, परमेश्वर इसी ही के कारण शक्तिमान् कहे जाते है। सिद्ध धर्माचार्य का भी इस प्रकार कहना है कि सूर्य में प्रकाश, पुरूष में चेतना, अग्नि में ऊष्मा, जल में शीतलता, चन्द्र में चन्द्रिका, वायु में वेग आदि शक्ति के ही कारण है। यदि इस संसार में यह शक्ति न हो तो संसार सार रहित हो जाता है, इसलिए महाशक्ति की उपासना विभिन्न देवताओं के द्वारा किया जाना स्वाभाविक ही है।[1] यह महाशक्ति ही सबका मूलाधिष्ठान है और यही वेदों में प्रतिपादित अग्नीषोम है। जिस किसी वस्तु अथवा प्राणी में जो कोई भी सामर्थ्य है, तो वह केवल पराशक्ति के ही कारण है।

परमेश्वर ही एकमात्र पारमापर्थिक तत्त्व है, उसके भीतर यदि सृष्टिसंहार आदि पाँच पारमेश्वरी कृत्यों को विकास में लाने के प्रति उन्मुखता रूपी इच्छा नहीं होती तो कुछ भी नहीं होता। केवल परब्रह्म ही होता। वह भी होता या नहीं होता, कुछ कहा सुना नहीं जाता। तो यह प्रपञ्च इसलिए विकास को प्राप्त होता है कि परमेश्वर अपने आप को इस रूप में प्रकट करना चाहता है और अपनी उस चाह के खेल को पूरी तरह से खेलना चाहता है। परमेश्वर की ऐसी परमेश्वरतात्मिका परा इच्छाशक्ति ही उसकी दिव्यातिदिव्य अभेद निष्ठ कामना है, ऐसी कामना अपनी शक्ति की पूरी अभिव्यक्ति की कामना है, अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं। ऐसी पारमेश्वरी कामना को ही सिद्धों की भाषा में कामकला कहते हैं, क्योंकि परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी कला के रूप में अभिव्यक्त होती रहती है और उसी के आधार पर समस्त प्रपंच के सारे के सारे व्यापार और व्यवहार अबाध गति से चलते रहते है, अतः सिद्धजन उस भगवती कामकला की उपासना को विशेष महत्त्व देते हैं, जितने भी बीजमन्त्र होते हैं, वे सब परमेश्वर बनी शक्तियों के प्रतीक होते है।

आत्मदेव वस्तुतः स्वयं परमेश्वर ही है; स्वयं परमेश्वर ने ही जब अपनी परमेश्वरता को अपने विलास की लीला में आते हुए भुला डाला तो अल्पज्ञ और अल्पशक्ति जीव के रूप में प्रकट हो गया। इस तरह से परमेश्वर ने ही आत्मदेव रूपी जीवों की सृष्टि की है। अतः

---

1. त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरूचौ रूचिस्त्वं त्वं चेतनाऽसि पुरूषे पवने बलं त्वम्।
त्वं स्वादुताऽसि सलिले शिरिवनि त्वमूष्मा निस्सारमेतदखिलं त्वदृते यदि स्यात्।। -म. क्र. स्तो., पृ. 36

सभी आत्माएं उस परमेश्वर की ही सन्तति है इसलिए आत्मदेव को परमेश्वर रूपी भगवान् शिव का पुत्र कहा गया। तो आध्यात्मिक गणेश अपना जीवस्वरूप ही है। परमेश्वर तभी परमेश्वर है जब उसमें परमेश्वरता है। परमेश्वरता उसका आवश्यक और नैसांर्गिक स्वभाव ही है, उसके स्वरूप से कोई भिन्न पदार्थ नही है, केवल समझाने के लिए परमेश्वर को शिव कहते हैं और उसकी परमेश्वरता को शक्ति कहते है, वस्तुतः शिव शक्ति ही है, शक्ति ही उसकी शिवता को प्रकट करती है, ठहराती है और सिद्ध करती है, जिस किसी पहलू से उसके विषय में विचार विमर्श करो वह पहलू उसकी कोई न कोई शक्ति ही होगी। अतः शिव अनन्तशक्तियों का अपरिमित एकधनस्वरूप है। तो उसे वस्तुतः शक्ति ही कहा जाना चाहिए। "सिद्धसिद्धान्त संग्रह" में कहा गया है कि जिस प्रकार चाँदनी चाँद से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार शिव ओर शक्ति अभिन्न है।[1] छोटे-छोटे इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि "शाकस्वरूप" ईश्वरों की अपेक्षा परमेश्वर "महाशाकस्वरूप" है, इन ईश्वरों की ईश्वरता परिमित है, परन्तु परमशिव रूपी परमेश्वर की "शाकता" सर्वथा अपरिमित हैं। इस "शाक" (सामर्थ्य) से ही सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह रूपी पाँच पारमेश्वरीय कृत्य जीवित होते हैं। अतएव यह अवर्णनीय है।[2] एकमात्र "शाक" ही परमशिव ओर पराशक्ति दोनों है और सदैव चाहता भी है और चाहा भी जाता है, जानता भी है और जाना भी जाता है तथा करता भी है और किया भी जाता है।[3]

आचार्य के अनुसार जिस सामर्थ्य के आधार पर अवरोह क्रम में शक्तियों के और स्वरूप के सङ्कोच की तथा आरोह क्रम में शक्तियों के तथा स्वरूप के विकास की प्रतीति होती हैं और उसकी परिभाषा की जाती है, वह सारा "शाक" में ठहरा हुआ है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर शक्ति धन होता हुआ ही जब जगद्रूपता का आभास

---

1. शिवस्यामान्तरे शक्तिः शक्त्येरभयन्तरे शिवः।
अंतरं नैव जानीपात् चन्द्रंचन्द्रिकयोरिव।। -सि. सि. सं., पृ. 156

2. सृष्टिः स्थितिः संहृतिश्च निग्रहोऽनुग्रहोऽपि वा।
यमन्तरा जीवति नो स शाकः केन वर्व्यताम्।। -सि. सि. र., पृ. 48

3. करोति क्रियते नित्यं जानाति ज्ञायतेऽपि च।
शाक एको महादेवो महादेवीच्छतीष्यते।। -तदेव, पृ. 5

4. सङ्कोचो वा विकासो वा यद्बलात् परिभाष्यते।
प्रतीयते वा तत् सर्वं बलं शाके प्रतिष्ठितम्।। -तदेव, 60

करता है तो अपने आपको एक संकुचित जीव के रूप में तथा अपनी शक्तियों को अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता के रूप में प्रकट करता है। फिर शक्तिधन होने की महिमा से ही अनुग्रह लीला के द्वारा अपने उस आभासमान संकोच को मिटाता हुआ अपने परिपूर्ण विकास को और अपनी शक्तियों के ऐसे विकास को चमकाया करता हैं। ये संकोच और विकास, सारे ही प्रतिबिम्बन्याय से केवल आभासित ही होते रहते हैं तथा व्यवहार में कहे जाते हैं, वस्तुतः उसके स्वरूप में अथवा स्वभावभूत शक्तियों में कोई भी विकार नही आता हैं।

जीव भी ब्रह्म का रूप ही है, और जिस प्रकार प्रकाश लुप्त रहता हैं और यही पुरूषार्थ की चरम परिणति हैं, जीव और ब्रह्म की भेद-दृष्टि का के फल्स्वरूप अर्जित होता हैं। वेदान्त-दर्शन में केवल ब्रह्म को ही सत्य माना गया है और जागतिक समस्त पदार्थों को मिथ्या कहा गया हैं। वहां जीव और ब्रह्म में अद्वैत हैं, किन्तु आगमिक विचारधारा में अद्वय शब्द का उल्लेख किया गया है, जिसका भाव दोनों (शिव-शक्ति अथवा जीव-ब्रह्म) का सामरस्य है। शक्ति स्वतन्त्र होते हुए भी शिवमय है और शिव स्वतन्त्र होते हुए भी शक्तिमान् है, अतः संसार को मिथ्या समझते हुए भी इस अद्वयावस्था को कुछ योगी ही समझ कर इस स्वातन्त्र्य का अनुभव कर पाते हैं।

शिव की शक्ति स्वरूपा कामकला का चिन्तन मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त किया जाता है। आगमिक योग-शास्त्र के अनुसार यही कुण्डलिनी रूपा मूल शक्ति हैं। शक्ति बीज के प्रभाव से जीव और ब्रह्मैक्य का फल मिलता है। इस बीज का चिन्तन मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र किया जाता है। आचार्य के अनुसार शिव स्वरूप मानव “अ” से लेकर “क्ष” पर्यन्त वर्ण रूपी तत्त्वों के समूह को साधना के क्रम में सूर्य, चन्द्र (इड़ा, पिङ्गला) प्राण और अपान को मिला कर पावन (वायु-सुषुम्णा) के साथ भली-भांति जीतकर, जो रात्रि में श्मशान में जाकर अग्नि में हवन करता है, अर्थात् जागरित व्यापार से ऊँचा उठकर तत्त्व समूह का हृदय में विमर्श करके चिदग्नि में आत्मसात करता हैं, ऐसा मानव साक्षात् शिव ही है।[1] उन्होंने परमसत्ता

1. प्राणापानौ विजितपवनो मेलयन्नर्कचन्द्रौ रात्रौ शून्यं पितृवनमथो गाहमानः समन्तात्।
दर्शं दर्शं दहरदहने होमयँस्तत्त्वजालं आदिक्षान्तं जयति नृशिवस्त्वत्यदध्यानमग्नः।। – म. क्र. स्तो., पृ. 16

को "बालात्रिपुरसुन्दरी" नाम से भी सम्बोधित किया है। तदानुसार वह सबकी आत्मा है, अतएव सभी में व्याप्त हैं, अपने आनन्द एवं विमर्श के लिए ही वह जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार रूपी लीला करती है। इसके लिए उन्हें किसी दूसरी वस्तु की उपेक्षा नहीं होती। "अकार" से लेकर के "क्षकार" तक समस्त विशाल तत्त्व समूह भगवती के हृदयकोण में व्याप्त है।[1] वह परमसत्ता स्वतन्त्र है, अर्थात् किसी के अधीन नहीं है और जिसकी समस्त लीला अपनी ही शक्ति का विलास है, वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता, अतः पूर्ण निरपेक्ष है और किसी आत्मातिरिक्त पदार्थ का ग्रहण न करके अपनी स्वभावभूत-शक्ति से ही विश्व का विस्तार करती हैं। वह अमृत अर्थात् अमर अनन्त अथवा शाश्वत है, अपरिमित और विमर्श सार हैं अर्थात् जिसके स्वरूप विमर्श से समस्त वाङ्मय और विश्व का विस्तार हुआ है, वह सर्वथा और स्वतः परिपूर्ण है, वह अनन्त शक्तिमय तथा स्व-प्रकाश अर्थात् अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होने वाली है।[2]

परमेश्वर जब एक महान कवि बन कर इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों शक्तियों को उल्लास में लाता हुआ अपने आपको तिरोधान-कृत्य द्वारा छिपा देता है, तो उसका अपह्नव (तिरोधान) भी अलङ्कार ही बन जाता है, क्योंकि जिस प्रकार कवि अपने काव्य रस में मस्त होकर जब वस्तु का अपह्नव करता है ,तो वही अपह्नुति नामक अलङ्कार बन जाता है। उसी प्रकार अपने चैतन्य के आनन्द मे मस्त रहने वाले परमेश्वर का यह स्वरूप-तिरोधान भी एक अलङ्कार ही बन जाता है।[3] इसका तात्पर्य यह हैं कि जिस प्रकार कवि अपने स्वरूप को छिपाकर नाटक के पात्र आदि के रूप में प्रकट होकर काव्य की रचना करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी जीव आदि के रूप में प्रकट होकर विश्व-काव्य की रचना करता है। वह कवि के समान ही स्रष्टा हैं और काव्य के समान ही उनका स्वरूप आनन्दमय हैं। काव्य में इसे "रस" कहते हैं उपनिषदों में रस को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। उपनिषदों

1. आदिक्षान्तं सकलमपि ते तत्त्वजालं विशालं यस्या नित्यं हृदयकुहरीकोणमात्रेसमस्ति। -ल॰ क्र॰ स्तो॰, पृ 62
2. स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म वाग्भवम्।
   परिपूर्णं शक्तिधनं स्वप्रकाशं तदस्म्यहम्।। -विं. शा., श्लो. 2
3. कुर्वञ्जानँस्तथैवेच्छन् यदात्मानमपह्नुते।
   सोऽपह्नवोऽप्यलङ्कारः स्वरसे माद्यतः कवेः।। -तदेव, श्लो. 11

में ब्रह्म की "कवि" संज्ञा भी है। कवि के समान ही वह स्वतन्त्रता-पूर्वक विश्व-काव्य की रचना करता है और अपने अद्‌भूत काव्य के रस में निमग्न रहता है।

आचार्य द्वारा काव्य में कवि का रूप तिरोहित हो जाता है, किन्तु वह अन्य रूपों में व्याप्त रहता है। इसी प्रकार परमात्मा-रूपी कवि भी अपने स्वरूप का तिरोधान करके विश्व-काव्य के रूपों में व्याप्त रहता है, अपने रसात्मक-स्वरूप से उनमें रमण करके वह आनन्द में निमग्न रहता है। अपनी प्रकाश-रूपता का विमर्श करके और अपनी विमर्शरूपता को प्रकाशित करके परमेश्वर समस्त भाव-समूह की कल्पना करता हुआ कवि बन कर उन समस्त भाव-समूहों के भीतर अपनी रसमयता अर्थात् अपनी स्वात्म-चमत्कार-रूपी आनन्दमयता से रमण करता है। अर्थात् निग्रहाऽनुग्रह-लीला का विलास करता रहता है।[1]

नाटक के लक्षणों के अनुरूप परमात्मा के विश्व-काव्य का विवरण करते हुए कहा गया है कि यह परमात्मा रूपी कवि स्वयं ही नाटक का प्रेक्षक, नट, विभाव, अनुभाव आदि भाव और रङ्गभूमि के रूप में प्रकट होता हुआ अपने ही चरित्र का अनुकरण करता है और इस विश्व-नाटक की रचना में आत्म-चमत्कार के रस का आस्वादन करता रहता है।[2] लौकिक नाटक के ये अङ्ग अलग-अलग होते हैं। लोक की स्थिति भेद-मूल्क है, किन्तु परमात्मा एक ओर अद्वैत हैं। उसके अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं हैं। अतः उसका यह विश्व नाटक अनेक रूप प्रतीत होते हुए भी मूलतः एक-रूप है। वह किन्हीं बाह्म उपकरणों को लेकर विश्व-नाटक की रचना नहीं करता। विश्व-नाटक के सभी अङ्ग और उपकरण परमात्मा के ही स्वरूप है। जिस प्रकार दर्शक नाटक के रस का आस्वादन करता है, उसी प्रकार परमात्मा ही स्वयं अपने चरित का अनुकरण करता हुआ अपने इस विश्व-नाटक के रस का आस्वादन करता हैं। इस दृष्टि से परमात्मा का यह विश्व-नाटक महान् होने के साथ-साथ विचित्र भी है। शिवसूत्र में आत्मा को नर्तक कहा गया है।[3] आत्म-चमत्कार के अभिनय-द्वारा

1. स्वप्रकाशं विमृश्याऽयं स्वविमर्शं प्रकाश्य च।
विश्वान्नि कवयँस्तेषु रमते हि रसात्मना।। -विं. शा., श्लो. 12

2. सभ्यो नतो विभावादिभावा रङ्ग स्वयं भवन्।
स्वचरित्राऽनुकारेण स्वमेव भजते रसम्।। -तदेव 13

3. "नर्तक आत्मा।" -शि.सू., 3/9

वह विश्व-नाटक की रचना करके स्वयं ही उसका रसास्वादन करता है। बिन्दु के बिना रेखा नही बन सकती, रेखा के बिना लिपि रूप वर्ण की कोई सत्ता नहीं, वर्णों के बिना पद का कोई अस्तित्त्व नहीं, पदों के बिना वाक्य सत्ता-हीन हो जाता है और वाक्य-बिना ग्रन्थ का होना सम्भव नही। अतः बिन्दु, रेखा, वर्ण, पद, वाक्य और ग्रन्थ की परम्परा के द्वारा यह प्रमाणित होता हैं कि अखिल वाङ्मय परमात्मा के प्रकाश-रूप बिन्दु का ही विस्तार हैं।[1] शिव-रूप बिन्दु ही अचिन्त्य और स्वात्म-स्वरूप अपनी विसर्ग-शक्ति के द्वारा सदा समस्त वाङ्मय के रूप में प्रकट होता है। अर्थात् आत्म-प्रकाश-रूप बिन्दु ही शिव है। वह शिव-रूप बिन्दु ही अपनी "विसर्ग" नामक शक्ति के द्वारा अखिल विश्व और वाङ्मय के रूप में विभासित होता है। शिव की यह शक्ति अचिन्त्य है, किन्तु वह शिव का स्वरूप ही है। शिव और शक्ति एक दूसरे से अभिन्न हैं। अतएव वह परमसत्ता स्वतन्त्र, आनन्दरूप और विमर्शरूप होती हुई भी अपने स्वरूप में सदैव अच्युत बनी रहती हैं।

आचार्य के अनुसार आत्मा महोऽस्म्यहम, परिपूर्ण, अपने आप में, स्वयंसिद्ध, आनन्दमय और प्रकाश-विमर्श से युक्त है। शैवी साधक अपने आपको परिपूर्ण परमेश्वर ही के रूप में पहचान लेने पर अपने आप का विमर्शन परिपूर्ण और अद्वैत "अहम्" के रूप में करने लग जाते है। वह "अहम" परिपूर्ण परमेश्वरतात्मक होता हुआ अमृतमयी कला से परिपूर्ण होता है। सर्वथा अभिन्न और असीम होता हुआ स्वात्म विमर्श ही परावाणी है। उसी को शिवपद में स्पन्दनशील होने के कारण शिवपद की ध्वनि अर्थात् शिवभाव का विमर्शन कहा गया है।[2] आत्मसाक्षात्कार आत्मा को ही होता है।इस जगतिक काल्पनिक अनन्त व्यवहार के बाहर भीतर सभी ओर आत्मातिरिक्त अन्य वस्तु हो ही नहीं सकती। प्रकाश और विमर्श से चमत्कृत रहने वाली आत्मा ही है, प्रकाश के सभी प्रकार ज्योतिर्मय और विमर्श के सभी प्रकार वाङ्मय कहे जाते है, आत्मा को ही आत्मा का बोध होता है, भगवान्, राम, शिव, कृष्ण और जगज्जननी माँ आदि के रूप में एक ही आत्मा हैं और इनका भजन करने वाले भी आत्मा

1. रेखा बिन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि न हि विद्यते।। -विं. शा., श्लो. 14

2. धन्याः स्वमेव सकलेषु चराचरेषु व्याप्तं प्रकाममनुभूय सुधाकलाढ्यम्।
कल्याण-धाम्नि रसयन्ति हि सावधानाः शैवावनौ शिवपदध्वनिमध्वनीनाः।। -वि. सि. प्र., पृ. 107

रूप ही हैं।, इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार के प्रत्यक्ष बोधों के स्थलों में भी बोध और बोध्य की सत्ता एक ही है, वास्तविक मूल आत्मा को छोड़ करे दूसरा हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह तो स्वयंसिद्ध है कि आत्मा का सत्ता काल्पनिक नहीं होती। सभी दशाओं में तुष्टि, पुष्टि, बोध और आनन्द सभी कुछ परोक्ष भी और प्रत्यक्ष भी आत्मा को ही होने पर भी आत्मातिरिक्तों को ही हुआ-सा काल्पनिक व्यवहार में प्रतीत माना जाता है। वाङ्मय और ज्योतिर्मय दोनों ही आत्मसत्ता में स्फुरित होते हैं। इन दोनों का "है" अथवा "नहीं है" दोनों ही प्रकार का प्रकाश बोध में आता ही है। आत्मा की सत्ता, चित्ता एवं आनन्दता का बोध आत्मा को ही होता है, आत्मा स्वभावत: शक्तिधन है, इसी कारण उसको महासत् महाचित् तथा महानन्द कहा जाता है। अतएव महासत्ता, महाचित्ता और महानन्दता आत्मा की नैसर्गिक शक्ति के प्रकार हैं। आत्मातिरिक्त की उत्पत्ति, स्थिति अथवा लय कुछ भी नहीं होता। यह केवल काल्पनिक ही है। आत्मा अपनी तिरोधान शक्ति से स्वयं तिरोहित-सी होकर निगृहीत दशा में जीव और अनुगृहीत दशा में शिव कहलाती है। यह कहलाने वाला और कहने वाला पृथक् नहीं होता। पृथक् न होने पर भी प्रत्यक्ष भावों को अपने आप में, अपने आनन्द के लिए कल्पना करके, उन आनन्दों का उपयोग ओर उपभोग करता रहता है।

वाच्य-वाचक के रूप में एक महार्थ परमशिव ही प्रकाशित होता है। इनका विमर्श करने वाला भी सच्चिदानन्द स्वरूप शिव ही है।[1] इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि "सर्वत्र आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। इनका कहना है कि करना, जानना और चाहना यह सब आत्मा की सत्ता के ही कारण हैं, इसी कारण स्थूल, सूक्ष्म ओर कारण सभी प्रकार के स्फूरणों का आधार आत्म "सत्ता" हैं। इसी की "सत्ता" का आधार तो स्वयं इसकी "सत्ता" ही हैं। जिस "सत्ता" को दूसरे आधार की अपेक्षा रहती है, वह "सत्ता" स्वयं "सत्ता" नहीं, वह काल्पनिक है, स्वयं-भूसत्ता की वास्तविक "सत्ता" है। इसी को आत्मा कहा जाता है। आत्मा ही शक्ति है आत्मा ही शक्तिमान् हैं। आत्मा सर्वशक्ति-स्वरूप होने के कारण एष्टा

1. वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लक्ष्यलक्षकयोगत:।
व्यङ्ग्यवयञ्जकभावाच्च महार्थ: प्रस्फुरेच्छिव:।।
वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्य भावविमर्शपरवान् भवन्।
सच्चिदानन्दस्वरूप: शिव एव प्रकाशते।। -विं. शा., श्लो. 16-17

एषणीय, ज्ञाता ज्ञेय, कर्त्ता करणीय है और आत्मा ही माता मेय, भोक्ता भोग्य, होता हवनीय, पालयिता पालनीय, जनयिता जननीय है। यह सभी भाव काल्पनिक है। उत्पत्ति और विनाश होने से आत्मा में कोई अन्तर नही आता है। आत्मा महादेव है। अनन्त दिव्य क्रीड़ा उसका स्वभाव है। उसके अनन्त साम्राज्य उनके संचालक तथा संचाल्य अण्ड (शरीर) भी कल्पित किये गए हैं। पाप-पुण्य की वार्ता और उनके कर्ता भी तथा उनके नरक-स्वर्ग आदि भोग और उनमें उलझने सुलझने की चिन्ताएँ सभी आत्म-विलास मात्र हैं। आत्मा की क्रिया शक्ति के, ज्ञान शक्ति के और इच्छा शक्ति के बड़े-बड़े काल्पनिक साम्राज्य हैं, उनका जो कुछ भी बनना-बिगड़ना हैं, वस्तुतः अपने आप में ही है। आत्म-स्वरूप के निग्रह से नीचे-नीचे और उसके अनुग्रह से ऊँचे-ऊँचे पद की प्राप्ति भी एक आत्म-चमत्कार ही हैं, इस अनन्त शक्ति आत्मा में बहिर्मुखता की भी कोई सीमा नहीं और अन्तर्मुखता की सामर्थ्य का अन्त नहीं, जितनी मात्रा में आत्मा का अनुग्रह होगा, उतनी मात्रा में अन्तर्मुखता को पराकाष्ठा होगी। इस अन्तर्मुखता की पराकाष्ठा के लिये पूर्ण निरपेक्षता की आवश्यकता हैं, जिसकी प्राप्ति स्वयं शिव अथवा श्री सद्गुरू से होती हैं।

2- छत्तीस तत्त्व : काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव का विश्वोत्तीर्ण रूप अथवा प्रकाशमय रूप वह रूप है, जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप समस्त जगत् एकात्मय रूप से अवस्थित रहता है। उनका विश्वमय अथवा शक्तिमय रूप छत्तीस तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्तिकरण मात्र है। अतः सिद्धजन इन तत्त्वों को एकमात्र परमेश्वर के रूप में ही देखते हैं। सिद्धों की यही अद्वैत दृष्टि है।

तत्त्व विचार : सिद्धजन केवल छत्तीस तत्त्वों को ही नहीं, अपितु उनके विकार-स्वरूप इस सारे ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश को भी परमेश्वर के ही रूप में देखते हैं। सिद्धों की यही अद्वैत दृष्टि है। जिसमें उनको अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत में सब कुछ एक परमेश्वर ही दिखाई देता है। सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का प्रसार और संकोच है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप "शैव शास्त्रों में छत्तीस वर्गों या तत्त्वों में वर्णित है। इनकी निश्चित् संख्या के विषय में शैव दार्शनिकों में

मतभेद पाया जाता है। उत्पलाचार्य के अनुसार तत्त्वों की संख्या छत्तीस है। किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार परमतत्त्व (परमशिव) हमारी बुद्धि के परे है, अत: उसके विषय में जो कुछ हम समझते हैं, वह हमारी समझ है, परमशिव उससे परे हैं। क्योंकि शिव और शक्ति तत्त्वों को नित्य अद्वैत तत्त्व माना जाता है। अत: क्षेमराज इत्यादि शैवाचार्यों ने पैंतीस तत्त्वों का ही उल्लेख किया है।[1] वस्तुत: सदाशिव की अवस्था में ही विश्व का प्रारम्भ होता है।[2]

आचार्यानुसार ये तत्त्व परमतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिये ये मूलत: परमतत्त्व ही हैं। ये तत्त्व सांख्य की तरह विषयात्मक या मनोवैज्ञानिक नही है। शैव दार्शनिक मानते हैं कि ये तत्त्व सत्य है और यौगिक अनुभव द्वारा जाने जा सकते हैं। आचार्य ने तत्त्वों की संख्या के मतभेद में न पड़ कर सामान्य रूप से मानी जानी वाली संख्या अर्थात् छत्तीस तत्त्वों को ही माना है।

शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा अथवा शुद्ध सृष्टि कही जाती है। सृष्टि-क्रम के ये पाँच तत्त्व शिव द्वारा स्वयं बिना किसी सहायक के या अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्ति होते हैं। तन्त्रसार के अनुसार साक्षात् शिव इनका कर्त्ता है।[3] शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूप का अन्यथा ज्ञान नहीं रहता। वहां शुद्ध संवित् स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेदभाव की अनुभूति बनी रहती है। इन पाँचों तत्त्वों तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है। इनसे नीचे माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों को अशुद्धाध्वा अथवा मायाध्वा कहते हैं, क्योंकि इनमें माया के प्रभाव से अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही रहता और द्वैतता की स्थूलं अभिव्यक्ति होती है। आचार्यानुसार इन तत्त्वों का सारगर्भितरूप इस प्रकार है :

---

1. सदाशिवादे: भूम्यन्तस्य। -प्र. हृ., सू. 1, पृ. - 44
2. "श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम।" -भास्करी, भा. - 2, पृ. - 219
3. "इयति साक्षात् शिव: कर्ता।" -तं., सा., आ. - 8, पृ. - 74

शिवतत्त्व

शिवतत्त्व परमशिव का प्रथम स्पन्द है। जब अनुत्तर अर्थात् परमशिव जब अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिए स्पन्दमान् होता है, तो उसका आद्य स्पन्द विद्वज्जनों की दृष्टि में "शिवतत्त्व" कहलाता है।[1] इसमें चित्-शक्ति का प्राधान्य रहता है। तन्त्रसार के अनुसार पञ्चशक्ति स्वभाव परमशिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है।[2] अत: परमशिव का सर्जनात्मक विश्वमय रूप शिवतत्त्व कहा जाता है। शिव से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है। इसलिये "अहम्" प्रत्यय के साथ "अस्मि" नहीं लगाया जाता क्योंकि "अस्मि" सम्बन्ध का घोतक है।

इस अवस्था से सम्बन्धित विषयी शाम्भव कहलाते है। प्रत्येक प्राणी में रहने वाला शिव तत्त्व ही आत्म तत्त्व है। आत्मतत्त्व चैतन्य स्वरूप है।[3] यही तत्त्व परासंवित, परमेश्वर "शिव" अथवा "परमशिव" आदि नामों से भी अभिहित होता है। इस शिव तत्त्व का ही अपने से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व से अभिन्न रूप में स्फुरण है।[4] इस तत्त्व के अतिरिक्त वस्तुत: और कुछ भी "ग्राहक" रूप में नहीं है। आचार्य महानुभाव ने शिवतत्त्व के उपर्युक्त स्वरूप का सारतत्त्व बतलाते हुये कहा है कि यह परमशिव की वह दशा होती है, जिसमें वह मात्र प्रकाशरूप से ही प्रकाशित होते है। वास्तव में यह शिव की नित्य एवं शान्त अवस्था होती है एवं यह सभी तत्त्वों में व्याप्त रहता है।[5]

शक्ति तत्त्व

बाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखता रूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व कहा जाता है।[6] वास्तव में

---

1. यदयम नुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया खिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
   पस्पन्दे स स्पन्द: प्रथम: शिवतत्त्वमुऽयते तज्ज्ञै।। -षद्. त्रिं., त. सं., पृष्ठ - 1, श्लोक - 1
2. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्।" -तं., सा., पृ. - 74
3. "चैतन्यमात्मा।" -शि. सूत्र, 1, 1
4. "अखिलम् अभेदनैव स्फुरति।" -प्र. ह., पृ. - 8
5. प्राकाशमात्ररूपाय विमर्शामिर्शरूपिणे।
   नित्योदिताय शान्ताय नमो मह्यं शिवात्मने।। - प. शि. स्तो., श्लोक - 6
6. "तस्य (परमशिव) बहिरौन्मुख्येन व्यापार: शक्तितत्त्वम्।" -तं. आ., भा. - 6, पृ. - 50-51

चिद्रूपता का उन्मेष अन्तर्मुख होना है और उसका निमेष ही बहिर्मुख होना है।[1] क्योंकि परमशिव सभी में है और सब उसी में है। अतः उसके विषय में भीतर और बाहर का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। शक्ति और शिव अभिन्न हैं।[2] दोनों का भेदमात्र व्यावहारिक स्तर पर है। काश्मीर शैव दर्शन में कहीं शिवतत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है, तो कहीं-2 शक्तितत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। शैवाचार्य क्षेमराज ने "पराप्रावेशिका" में शक्तितत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द बतलाया है।[3] आचार्य अभिनवगुप्त ने शिवतत्त्व को परमशिव की "प्रथम तुटि" तथा शक्ति तत्त्व को परमशिव की "द्वितीय तुटि" कहा है।[4]

आचार्य महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी में कहा है कि वही अर्थात् शिव ही अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिये उन्मुख होने पर शक्ति स्वभाव वाला कहलाता है।[5] महेश्वरानन्द जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है - जब शिव अपने हृदय में (बीजरूपेण) विद्यमान अर्थ तत्त्व को बाहर करने के लिए उन्मुख होता है तब वह शक्ति कहलाता है।[6] शक्ति चित् की क्रियाशीलता या गतिशीलता है। विमर्श या उन्मुखता के सदृश विचार छान्दोग्योपनिषत् के निम्नलिखित वाक्य में मिलता है - पहले एक, द्वितीय के बिना सत् ही था। उसने ईक्षण किया बहु हो जाऊं, प्रजनन करूं।[7] यह ईक्षितृत्व विमर्श या उन्मुखता के सदृश हैं, किन्तु शांकरवेदान्त ने इसके निहितार्थ को प्रस्फुटित नहीं किया।

1. आन्तरत्वमिदं प्राहुः संविन्नैकतयशक्तिताम्।
तां च चिद्रूपतोन्मेर्श बाह्यत्वं तन्निमेषताम्।। -वही -, भा. - 7, आ. - 10, पृ. - 218-219
2. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमहिते
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।। -शि. दृ., 2-3
3. "परमेश्वरस्य प्रथम स्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम्।" -परा. प्र., पृ. - 67
4. अतएव शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते।
एक तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम्।। -तं. आ., भा. - 7, पृ. - 206-207
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका।
5. स एक विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः।। -11-महा.म., पृ. - 40
6. "यदास्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।" -वही -, पृ. - 40
7. "सदैव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत, बहु स्याम् प्रजायेय इति।" -छा. उप., 622, 1-3

श्री अमृतवाग्भव ने "परमशिवस्तोत्रम्" में उपर्युक्त शक्ति तत्त्व के रहस्य को सुस्पष्ट करते हुये कहा है कि शिव की शक्ति को ही विमर्श कहा जाता है। यह अतिविशाल, स्पन्दनशील, निजानन्द से सतत उत्तरङ्गित एवं विलक्षण स्वरूप वाला है।[1] उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली की टीका में राजानक क्षेमराज ने ऐसी ही बात कही है – शक्ति आनन्द से उच्छलित होकर अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है। समस्त सृष्टि शिव की सृष्टिकल्पना की बाह्य अभिव्यक्ति है।[2] शक्ति तत्व के अनुभाविक "शाक्त" प्रमाताओं का आनन्द शक्ति की प्रधानता से "अहम् अस्मि" अनुभव होता है।

सदाशिव तत्त्व

सदाशिव तत्त्व आभास क्रम में तीसरा तत्त्व है। इस की अभिव्यक्ति शिव की जगत् को अभिव्यक्त करने की इच्छा शक्ति के प्राधान्य से होती है। शिव और शक्ति तत्त्वों के अभिन्न एवं नित्य एकरस होने से चूंकि वास्तव में इसी अवस्था से विश्व के अस्तित्व का आरम्भ होता है। अतः यह सादाख्यतत्त्व भी कहलाता है। इस अवस्था में प्रमाता मन्त्रमाहेश्वरों के अनुभव का प्रत्यय "अहम् इदम्" होता है। "अहम्" शिव का परिचायक है। और इदम् विश्व का। इस अवस्था में "इदम्" अंश अस्फुट रहता है और अहम् अंश का प्राधान्य होने से वह "इदम्" अंश को अच्छादित किये रहता है। इसलिये यहां जगत् का अव्यक्त रूप में मान होता है। सदाशिव अवस्था में ब्रह्माण्ड का "इदम्" अंश धुंधले विचार के रूप में रहता है, जैसे कलाकार के मन में चित्र बनाने के पूर्व चित्र की कल्पना मात्र रहती है।[3]

"श्री परमशिवस्तोत्रम्" में आचार्य ने शैव-सम्मत उपर्युक्त सदाशिव तत्त्व के स्वरूप को पूर्ण सहमति अभिव्यक्त करते हुये कहा है कि परमशिव का जगत् प्रकाशन विषयक तीसरा आभास "सदाशिव" संज्ञित होता है। इस दशा में यद्यपि इदं (विश्व) एवं अहं (चैतन्यात्मा) दोनों का अस्तित्व विद्यमान रहने से प्रमाता को "अहमिदम्" अनुभव होता है। परन्तु इदम्

1. विशालोल्लोललोलाय निजानन्दोर्मिमालिने।
विलक्षणस्वरूपाय विमर्शाय नमो नमः।। –प. शि. स्तो., श्लोक-7
2. "आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यामानमात्मना।" –शि. स्तो. टी., पृ. – 112
3. "तत्र प्रोन्मीलित मात्र चित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात इच्छा प्राधान्यम्।" –षट् त्रिं., त. सं, पृ. – 3

अंश "अन्तरिच्छामात्र होने से अस्फुट एवं अपने स्वरूप से अभिन्न ही प्रतीत होता है। अत: अहन्ता से विश्व (इदं) पूर्णत: आच्छादित रहता है. अर्थात् वह विश्व को अपना ही रूप समझता है।[1] इस अवस्था को भेदाभेद दशा कहते हैं।

ईश्वर तत्त्व

शिव की इच्छा का बहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है।[2] इस तत्त्व की अभिव्यक्ति शिवेच्छा में क्रिया शक्ति के उद्रेक से होती है।[3] प्रसिद्ध माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वर तत्त्व की दशा में ज्ञान शक्ति का प्राधान्य होना बतलाया है।[4] राजानक आनन्द के अनुसार जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहां स्पष्ट होती है। इस दशा के अनुभवकत्ताओं को मन्त्रेश्वर कहा जाता है। जिनका अनुभव "इदमहम्" होता है। इनमें ज्ञानशक्ति का प्राधान्य रहता है।[5]

आचार्य अनुसार सदाशिव तत्त्व की दशा में अस्फुट अस्तित्व वाला जगत् ईश्वर तत्त्व की अवस्था में अङ्कुरित अर्थात् स्फुटरूप को धारण कर लेता है। तथापित प्रामाता इदमरूपी जगत् को अपने से अभिन्न ही समझता है।[6] इसलिये इस दशा को भी भेदाभेद अवस्था कहते हैं। जैसे चित्रकार के मन में प्रदर्श्य चित्र की पहले एक धुंधली सी रूपरेखा होती हे। फिर उसका अधिक स्पष्ट रूप उभगने लगता है, वेसे ही सदाशिव की अवस्था में विश्व अस्फुट रहता है और ईश्वर की अवस्था में वह अधिक स्फुट हो उठता है।

सद्‌विद्या तत्त्व

ईश्वर तत्त्व के पश्चात् जिस शुद्ध तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है,. उसे सद्‌विद्या अथवा शुद्धविद्या तत्त्व से संज्ञति किया जाता है। इस तत्त्व के अधिष्ठाता "अनन्त-भट्टारक" कहलाते

---

1. समाच्छाद्ये दंस्फुरत्तामहन्तास्फुरणात्मना।
   सदाशिवसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे।। -प. शि. स्तो., श्लोक-8
2. "ईश्वरी बहिरून्मेषो, निमेषोऽन्त: सदाशिव:।" -ई. प्र. का., 3/31
3. "बहिर्भावस्य क्रिया शक्तिमयस्य परत्वे उद्रेकाभासेसति
   पारमेश्वरं परमेश्वर शब्द वाच्यमीश्वरतत्वं नाम।" -ई. प्र. वि. भा. - 8, पृ. - 172
4. "ज्ञानशक्ति प्रधान्ये ईश्वर तत्त्वम्।" -तं. सा., आ. - 8, पृ. - 74
5. "अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेक:।" -प्र. ह्, पृ. - 12
6. अहन्तयेदमावृत्य स्वात्मन्यङ्कुरितं जगत्।
   अहम्बोधसमर्थाय नम ईश्वररूपिणे।। -पृ. शि. स्तो., श्लोक- 9

है। जैसे शक्ति तत्त्व परमशिव का बहिरोन्मुख्य व्यापार है, उसी प्रकार सद्‌विद्या को सदाशिव एवं ईश्वर का बहिर्मुख व्यापार कहा जाता है।[1] वास्तव में यह तत्त्व सदाशिव एवं ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठात-देवताओं का "करण" स्थानीय है।[2] इस अवस्था के प्रमाता मन्त्र कहलाते हैं और उनका विमर्श "अहमिदमस्मि" होता है। तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में "अहम्" और "इदम्" दोनों स्फुट होते हैं और उनका पलड़ा बराबर होता है, तथापि "मन्त्र" उनको अपना ही स्वरूप समझते हैं। इसलिये यह भी भेदाभेद दशा कहलाती है। इस तत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता होती है।[3]

पूज्यपाद अमृतवाग्भव ने परमशिव के इस पञ्चम आभास का शैव शास्त्रों के अनुकूल ही वर्णन किया है। तदनुसार विद्या तत्त्व की दशा में "मन्त्री" को "अहन्ता" और "इदन्ता" में पार्थक्य स्पष्टतया प्रकाशित होने लगता है, तथापि विद्या (शुद्ध ज्ञान) की विद्यमानता बने रहने से उनमें ऐक्य स्थापित रहता है।[4]

शुद्ध अध्वा के पश्चात् माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक की सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इसे अशुद्ध सृष्टि अथवा मायीय सृष्टि भी कहा जाता है। अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है और मायीय जगत् की सृष्टि इस माया की सहायता से अधोरेश (अनन्त भट्टारक) के द्वारा होती है।[5] माया को मतों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध अध्वा अथवा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में माया को भेद - धी अर्थात् भेद - बुद्धि कहा गया है।[6] इसलिये माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्वा में भेद - ज्ञान का प्राधान्य रहता है।

---

1. "यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकधनमैश्वर्य तथापि तस्य यथा बाहिरोन्मुखयेन व्यापार: शक्ति तत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्या तत्त्वम्।" -तं. टी., भा. - 6, पृ. - 50-51
2. "तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं "करणं" विद्या तत्त्वम्।" -ई. प्र. भा. - 2, पृ. 3/1/5
3. "क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्त्वम्।" -तं. सा., आं. - 8, पृ - 74
4. अहन्तेदन्तयोर्भेदं प्रोल्लसन्तमपि स्फुटम्।
   ऐक्यं समापादयन्त्यै विद्यायै मे नमो नम:।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 10
5. "अशुद्धं (माया प्रभृतिकम्) पुनरध्वानमनन्तापरनामाधोरेश:सृजति,
   ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्धयर्थम्।।" -तं. सा., आ. - 8, पृ. - 74
6. "मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।" -षट्. त्रि. तं. सं., श्लोक - 5

माया तत्त्व

माया तत्त्व अभिव्यक्ति की वह अवस्था है, जिसमें विषयी की एकता विविधता में
अभिव्यक्त होती है। यहां अहम् अंश पुरूष में तथा इदम् अंश प्रकृति रूप में अभिव्यक्त
होता है। अचित (जड़) में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है। इस स्तर पर सार्वभौम
आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होती है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन
की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते है।[1] वास्तव में यह उनकी स्वातन्त्र्य
शक्ति ही है, किन्तु भेद का अवभासन करने के कारण ही यह माया शक्ति कहलाती है।[2]
माया की दो मुख्य शक्तियां मानी गयी हैं - परानिशा एवं विमोहिनी। परानिशा भेदाभिव्यक्ति [3]
का विमोहिनी स्वस्वरूपावरण का कारण है।[4] काश्मीर शेव दर्शन में माया और अविधा मे
विभेद नही किया गया है। प्राणियों में भेद उत्पन्न करने वाली माया को ही अविधा कहते
हैं। भेदमयी सृष्टि करने के कारण माया को जड़ भी कहते हैं,[5] क्योंकि शैव दर्शन में
प्रकाश की परिच्छिन्नता को ही जड़ कहा गया है।[6]

संसार का कारण होने के कारण माया व्यापिनी तथा कार्यों की कल्पना करने के कारण
सूक्ष्म कही जाती है। परमेश्वर की शक्ति होने के कारण यह नित्य है तथा विश्व का
करण है। पृथिवी पर्यन्त समस्त तत्त्व इसमें निहित है।

काश्मीर शैव दर्शन में माया-कलादि षटकंचुकोत्पादित आणवादि मलों को भी अविद्या के
नाम से अभिहित किया गया है। इसी को अज्ञान भी कहते हैं। क्योंकि वह अनात्मा में
आत्मबुद्धि उत्पन्न कराने वाली है। ज्ञान के विपरीत स्वरूप वाली होने के कारण इसको
मिथ्या - ज्ञान भी कहा जा सकता है।

1. देव: स्वतंत्रचिद्रूप: प्रकाशात्मा स्वभावत:।
   रूपप्रच्छादनक्रीड़ायोगादणुनेकक:।। - तं. आ. भा. - 8, पृ. 13/103
2. "परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता-
   प्रथनेन मीनाति हिनास्ति इति मायाशक्ति: उच्यतें।" -तं. आ. टी., भा. - 6, पृ. - 116
3. आधो भेदावभासो यो विभांगमनुपेयिवान्।
   गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा। -तं. आ., भा - 6, पृ. 150-151
4. "माया विमोहिनी नाम। -वि. भै., पृ. - 95
5. "सा जड़ा भेदरूपत्वात्।" -तं., आ., भा. - 69, पृ. - 151
6. "प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जड़स्य किल लक्षणम्।" -तं. आ. टी., भा - 6, पृ. - 227

अद्वैत वेदान्त में भी माया को स्वीकार किया गया है, तथा माया या अविधाकृत अध्यास का आलम्बन कर सम्पूर्ण लौकिक, वैदिक व्यवहार, विधि निषेध तथा मोक्ष की व्याख्या की गयी है।[1] माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रकट होकर जीवों के पूर्व के कर्मों के अनुसार संसार की सृष्टि करता है।[2] इसलिये यहां माया की प्रवृत्ति आगन्तुक है। यह सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीय है। यह परमसत्ता से असंहत रूप से सम्बद्ध है और अन्ततोगत्वा इसे मिथ्या कहा गया है।[3]

आचार्य के अनुसार विश्व परमशिव से अभिन्न है, परन्तु इस माया तत्त्व के प्रभाववश ही यह भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है।[4]

पाँच कंचुक

काश्मीर शैव दर्शन में माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों का प्रादुर्भाव माना गया हे। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थ मायीय ही कहे जाते हैं। पुरूष के स्वरूपाच्छादन होने के कारण ये कला आदि पाँच कंचुक अथवा माया सहित षट्-कंचुक कहलाते हैं। ये तत्त्व परिमित शक्तियां ही हैं। कला तत्त्व माया का प्रथम उत्पादन है। कही-कही काल को भी प्रथम कंचुक कह दिया गया है। सामान्यतः कला को प्रथम माना जाता है। परन्तु आचार्य महोदय ने काल तत्त्व के क्रम से इनका वर्णन किया है।

काल तत्त्व

जिसके द्वारा परमेश्वर का नित्यत्व संकुचित होकर अतीत, वर्तमान और अनागत में परिच्छिन्न हो जाता है, उसे काल कहते हैं। आचार्य अनुसार संवित् स्वरूप प्रमाता सर्वथा अभिन्न एवं

---

1. तमेतविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यास पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण प्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृताः सर्वाणि च शास्त्रापि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। – चं. सू., उप., पृ. – 24-25 –ब्र.सू. शां भा., 1-2-3-4
2. सापेक्षोहीश्वरी विषयां सृष्टिनिर्मिमीते। –च. सू., उप., पृ. – 245
3. ......मिथ्येति भवितुं युक्तम्।
4. विश्वमात्माभिन्नमपि भिन्नरूपतयायया। प्रतीयते सदा तस्यै मायायै नतिरस्तु मे।। –प. शि. स्तो., श्लोक – 11

अकालकलित होता है। परन्तु माया के प्रभावाधीन जब वह वस्तुओं की कलना क्रम से करने लगता है, तो उसकी इस प्रक्रिया को काल तत्वाधीन कहा जाता है। अतः शिव की अक्रमिकता में देश काल रूपी क्रमिकता का होना ही काल तत्त्व कहा जाता है।[1] अतः क्रम को ही काल कहते हैं।[2]

कला तत्त्व

इसकी उत्पत्ति माया से होती है। यह आत्मा के सर्वकर्तृत्वस्वरूप को आच्छादित कर देती है। तदनन्तर जीव को परिमित कर्तृत्व का अनुभव करती है।[3] इस अवस्था में कुछ करता हूं, का अनुभव होने लगता है। कला से ही प्रधान अर्थात् प्रकृति की उत्पत्ति होती है।[4] कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है। अर्थात् अग्रिम, विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है।

आचार्य के अनुसार परमशिव सर्वकर्तृत्व शक्ति से समन्वित होता है, परन्तु जब अपनी इच्छा से मायाशक्ति के माध्यम से अणुरूप (बद्ध, जीवरूप) हो जाता है, तो उसमें किञ्चित् करने की सामर्थ्य रह जाती है। इस किञ्चित् कर्तृत्व के कारण को ही कला तत्त्व कहते हैं।[5]

नियति तत्त्व

आचार्यानुसार कर्म-समूहों के विषय में जिस तत्त्व के द्वारा यह नियम ठहराया जाता है कि अमुक कर्म करने के योग है और अमुक कर्म करने के योग्य नहीं है उसे नियति तत्त्व कहते हैं।[6] जिसके द्वारा परमेश्वर का स्वातंत्र्य संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट

---

1. अनुक्रमेण भावनां कलनं येन जायते।
   तस्मै कालसमाख्याय शिवाय गुरवे नमः।। - प. शि. स्तो., श्लोक - 12
2. क्रम एव च कालो। -ई. प्र. वि., भा. - 2, पृ. - 9
3. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
   किंचित्कर्तारमुमं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।। -षट्. त्रि. त. सं., श्लोक - 8
4. "वेद्यमात्रं स्फुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला।" -तं. लो., आ. -9, पृ. - 177
5. ईषत् कार्योषु कर्तृत्वमणवे येन दीयते।
   नमस्तस्मै कलाख्याय शिवाय परमात्मने।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 13
6. कृत्याकृत्यतया येन कृत्यजातं नियम्यते।
   तस्मै नियतिरूपाय शिवाय नमनं मम।। -वही -, श्लोक - 14

कारण का नियम धारण करता है और उसका व्यापकत्व संकुचित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाता है। उसे नियति कहते हैं।

राग तत्त्व

जिसके द्वारा परमेश्वर की पूर्णतृप्ति संकुचित होकर यत्किञ्चित् भोगों में आसक्त हो जाती है, उसे "राग कहते हैं। राग तत्त्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है।[1] "श्रीपरमशिवस्तोत्रम्" में राग **के** विषय में कहा गया है कि यह अणु की कला एवं विद्या के क्षेत्र को और भी सीमित करने वाला तत्त्व है। इसके प्रभाव से परमशिव की दशा वाला पूर्णत्व किसी एक विषय की आसक्ति तक ही सीमित हो जाता है।[2]

विद्यातत्त्व

जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किंचित्ज्ञत्व में परिणत हो जाता है, उसे "विद्या कहते हैं। आचार्य ने विद्यातत्त्व के सम्बन्ध में कहा है कि परमशिव की सर्वज्ञातृत्व शक्ति का संकोच ही विद्या तत्त्व कहा जाता है। इससे अणु प्रमाता असमार्थता का अनुभव करता है। इसको अशुद्ध विद्या भी कहते हैं।[3]

जीव कुछ ही जान सकता है, अतः प्रमेयों को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है।[4] उसकी इस संकुचित ज्ञान रूपी विद्या को "अशुद्ध विद्या" कहा जाता है। यह पुरूषों में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है।

पुरूष तत्त्व

शिव जब कंचुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है, तब उसका सार्वभौभ ज्ञान ओर ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है और वह पुरूष अथवा एक परिमित व्यक्ति बन जाता है। पुरूष

1. रागेऽपि रंजयत्येन स्वभोगेष्वशुचिष्वपि। - मालि. वि. त. - 1, पृ. - 28
2. येन प्रीतिरणोः कस्मिन्नेकस्मिन्ववस्तुनि।
जायते शिवरूपाय तस्मै रागाय मे नतिः।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 15
3. किञ्चिज्ज्ञातुं समर्थ यः करोत्यज्ञमणुं किल।
तस्मा अशुद्धविद्याख्यशिवाय नमनं मम।। -वही-, श्लोक - 16
4. सर्वज्ञातस्य शक्तिः परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्तीविद्येति निगद्यते बुधैराधैः।। -षट्. त्रि., तं. सं., श्लोक - 9

से तात्पर्य केवल मानवीय व्यक्ति से नहीं है, अपितु प्रत्येक संकुचित वेदनशील प्राणी से है। "श्रीपरमशिवस्तोत्रम्" के अनुसार माया शिव की अभिन्न शक्ति है। परन्तु अपनी इच्छा से जब उसके द्वारा अपने सर्वज्ञत्व एवं सर्वकतृत्वरूपी ऐश्वर्य को छुपा देते हैं, तो उनकी उस अवस्था को पुरूष तत्त्व कहा जाता है।[1] पुरूष को अणु भी कहते हैं। अणु कोई दैशिक बिन्दु नहीं है। महेश्वर के पूर्णत्व के परिमितत्त्व के कारण ही कोई जीव अणु कहलाता है।[2]

प्रकृतितत्त्व

परमशिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्य रूप है, उसे प्रकृति तत्त्व कहा जाता है। प्रकृति तत्त्व का निरूपण करते हुए आचार्य ने कहा है कि जो महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के समस्त तत्त्वों का उपादान कारण और तीन गुणों की साम्यावस्था है, उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं।[3] प्रकृति के तीन गुणों से अभिप्राय है - रजस्, सत्व ओर तमस् प्रकृति शिव की सान्ता शक्ति है। सांख्यदर्शन में असंख्य पुरूषों की प्रकृति एक हैं। परनतु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति भी अनेक है। प्रत्येक पुरूष के लिये पृथक-पृथक प्रकृतियां होती हैं।[4]

महत् तत्त्व

प्रकृति में प्रक्षोम होने पर प्रकृतिस्थ तीन गुणों में विषमता आ जाती है, जिससे उसमें सत्त्व गुण प्रधान महत् तत्त्व की सृष्टि होती है। इसमें अहङ्कार से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इसलिये इसे महत् अथवा महान् तत्त्व कहते हैं।[5]

---

1. माययात्माऽभिन्नयैव स्वसामर्थ्यं पिधाय तु।
   पुरूषाख्यामश्नुवानं शिवं वन्दे विलासिनम्।। - प. शि. स्तो., श्लोक - 17
2. "पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वादणुत्वम्।" -प्र. हृ. टी., पृ. - 14
3. महदादिपृथिव्यन्त-तत्वोपादान-कारणम्।
   गुणत्रयोसाम्यरूपं प्रकृत्याख्यं शिवं नुमः।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 18
4. "तच्चप्रति पुंनियतत्त्वात् अनेकयः।" -तं. आ. टी. - 6, पृ. - 172
5. अहङ्कारादि-भूम्यन्तं वर्त्ततेऽत्रेति तन्महत्।
   ततो मे महदाख्याय शिवायैव महन्नमः।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 19

अन्य दार्शनिकों ने महत्तत्त्व को ही बुद्धि तत्त्व माना है। परन्तु आचार्य महोदय ने समस्त प्राणियों से सम्बद्ध बुद्धि तत्त्वों के एक समष्टि स्वरूप को ही महत् तत्त्व माना है, जिसमें अन्त:करण, बाह्यकरण सूक्ष्म तन्मात्र ओर पञ्चभूत प्रक्षोभ की दशा में ठहरे रहते हैं।

अहंकार तत्त्व

अहंकार से तात्पर्य है जिसके द्वारा अहं प्रतीति होती है और सब ग्राह्य या वेध अभिमत होते हैं। अर्थात् वे अपने माने जाते हैं। अहंकार महत् का परिणाम है। अत: "यह मेरा है" "यह मेरा नहीं है" इस प्रकार अभिमान का साधन "अहंकार" तत्त्व है। यह (जड़ पदार्थ) मैं हूं और यह मेरा है, इस प्रकार के अभिमान का कारण बनने वाला तत्त्व अहंकार तत्त्व कहा जाता है।[1]

अन्य दार्शनिक (सांख्यादि) मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन को अन्त: कारण मानते हैं। वेदान्ती चित्त सहित इन चार को अन्त:करण कहते हैं। आचार्य अनुसार दो ही अन्त:करण हैं - अहंकार और बुद्धि। इन दो के पुन: दो-दो पहलू हैं - एक है आत्मा के अभिमुख होकर ठहरने वाला और दूसरा है विषय के प्रति अभिमुख होकर ठहरने वाला। तदानुसार अहंकार का ही बहिर्मुख पहलु चित्त है और आत्म-अभिमुखी बुद्धि का ही विषयभिमुख बहिर्मुखी पहलू "मन" कहलाता है। मन के पहलू द्वारा बुद्धि ही विषय के नाम-रूपों का मनन करती है। अन्तर्मुखी पहलू के द्वारा वही निश्चयात्मक - विकल्पज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है।

बुद्धितत्त्व

बुद्धि नामक अन्त:करण रूपिणी शिव-शक्ति का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि जो नाम-रूप विकल्पात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को धारण करती है और विषयज्ञान को निश्चयात्मक स्थिति पर पहुंचा देती है तथा जो सत्व गुण प्रधान है, उसे बुद्धि तत्त्व कहते है।[2] यह व्यवसायात्मिक अर्थात् निश्चयात्मिका होती हैं।

---

1. अहमेतन्ममेदं चेत्यभिमानस्य कारणम्।
अहङ्कारसमाख्यातं वन्देऽहं शिवदैवतम्।। - प. शि. स्तो., श्लोक - 20

2. सत्त्वमुख्या विकल्पस्य प्रतिबिम्बं बिभर्ति या।
निश्चिनोति च या ज्ञानं वन्दे तां बुद्धिदेवताम्।। -प्र. शि. स्तो., श्लोक - 21

तन्मात्रायें

तमोगुण प्रधान अहंकार के परिणामस्वरूप सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है, ये विषय अन्यन्त सूक्ष्म होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस ओर गन्ध ये पाँच तन्मात्र होते हैं। ये सर्वथा प्रविभाग से रहित सूक्ष्मतर विषय मात्र होते हैं। इसलिये इन्हें तन्मात्रायें कहा जाता है। पाँच तन्मात्रायें विशेष प्रत्यक्ष के सामान्य तत्त्व हैं।

शब्द तन्मात्र

सामान्यकार शब्द मात्र को "शब्द तन्मात्र" कहते हैं। यह शब्द (ध्वनि) स्वर, व्यञ्जन अथवा सार्थक-निरर्थकादि के भेदों से रहित केवल ध्वनिमात्र एवं अत्यन्त सूक्ष्म है। इसका ज्ञान एकमात्र श्रोत इन्द्रिय से ही हो सकता है। आचार्यनुसार शिव का वह आभास शब्द-तन्मात्र कहा जाता है, जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान श्रोत्र इन्द्रिय के बिना सम्भव नहीं हो सकता।[1]

स्पर्श तन्मात्र

आचार्य के अनुसार जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान त्वक् (स्पर्श) इन्द्रिय के बिना सम्भव नहीं होता, उस सामान्य स्पर्शमात्र को स्पर्श तन्मात्र कहते हैं।[2] इसमें सर्दी गर्मी आदि का विशेष ज्ञान न होकर सामान्य ज्ञान रहता है।

रूप तन्मात्र

जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान चक्षु इन्द्रिय के अधीन है, उस रूपमात्र को रूप तन्मात्र कहते हैं।[3] इसमें नील-पीतादि की विशेषता नहीं रहती।

---

1. अन्तरा श्रोतकरणं जायते यस्य नो ग्रहः।
शब्दतन्मात्रमित्याख्यं नमामि शिवमद्भुतम्।।-प॰ शि॰ स्तो॰, श्लोक - 22
2. यस्य त्वगिन्द्रियाधीनं ग्रहणं सर्वसम्मतम्।
स्पर्शतन्मात्रमित्याख्यं वन्देऽहं शिवदैवतम्।। -वही -, श्लोक - 23
3. चक्षुरिन्द्रियमात्रेण ज्ञानं हि जायते।
रूपतन्मात्ररूपेण विलसन्तं शिवं नुमः।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 24

रस तन्मात्र

आचार्यानुसार जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान रसनेन्द्रिय के बिना सर्वथा असम्भव है, उस रसमात्र को रसतन्मात्र कहते हैं।[1]

घ्राण तन्मात्र

जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान घ्राणेन्द्रिय के अधीन है, उस घ्राणमात्र को घ्राणतन्मात्र कहते हैं।[2] सुगन्धी-दुर्गन्धी आदि विशेषता इसमें नहीं रहती।

ज्ञानेन्द्रियाँ

ज्ञानेन्द्रियाँ पुरूष की अशुद्ध विद्या की सहायक कही गई हैं। पुरूष के संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया हे। यह ज्ञानेन्द्रियाँ पुरूष के भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमतायें है जो उसके भिन्न व्यवहारों की साधन बनती हैं उनमें से निम्नलिखित हैं :

श्रवणेन्द्रिय

श्रोत इन्द्रिय पुरूष के सुनने की क्षमता को कहते हैं। यह स्थूल शरीर के कान के छिद्र में स्थित होता है। जिस इन्द्रिय के द्वारा शब्दों का सम्यक् ज्ञान होता है, उसे श्रवणेन्द्रिय कहते हैं। आचार्यानुसार शिव ही ऐसा करते हैं।[3]

स्पर्शनेन्द्रिय

स्पर्श के प्रत्यक्ष ज्ञान के जो असाधारण कारण है वह "त्वक् अर्थात् त्वचा" इस नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य के अनुसार शिव ही उसके रूप में ठहरे हुए हैं।[4] उष्ण, शीत, नम, कठोर आदि स्पर्शों को जानने की पुरूष की क्षमता को ही "त्वक् अथवा त्वचा" इन्द्रिय कहते हैं। यह स्थूल शरीर के सभी अंगों में रहती है।

---

1. रसनेन्द्रियविज्ञेयं निजमायाप्रभावतः।
   रसतन्मात्रमित्याख्यं शिवमेव नमाम्यहम्।।-प॰शि॰स्तो, श्लोक - 25
2. घ्राणेन्द्रियानुग्रहेण यज्ज्ञानं सम्प्रकाशते।
   गन्धतन्मात्रमित्याख्यं शिवमेव नमाम्यहम्।। -वही- 26
3. येनेन्द्रियेण शब्दानां ज्ञानं समुपजायते।
   श्रोत्राख्याय नमस्तस्मै शिवाय परमात्मने।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 27
4. स्पर्शज्ञाने साधनं तु यदसाधारणं किल।
   त्वगाख्याय प्रसिद्धाय शिवाय नतिरस्तु मे।। -वही -, श्लोक - 28

चक्षुरिन्द्रिय

रूप वर्ण, आकार आदि जानने की पुरूष की क्षमता को अथवा साधन को चक्षु कहते हैं। यह इन्द्रिय स्थूल शरीर में आँखों के तारों में स्थित है। आचार्य अनुसार जिस इन्द्रिय के सहयोग के बिना रूप नाम विषय का निरूपण किया ही नही जा सकता है उस चक्षु नामक इन्द्रिय के रूप में शिव ही ठहरे हुए हैं।[1]

रसनेन्द्रिय

प्रक्षोभ को प्राप्त हुए जल-तत्व के स्वाद की अनुभूति जिन कारण अर्थात् असाधारण कारण के द्वारा हुआ करती है, उसे "रसना" इन्द्रिय कहते हैं।[2] अर्थात् नमकीन, मीठा, खट्टा आदि स्वाद जान लेने का साधन बना हुआ पुरूष का कारण साधन रसना है। स्थूल शरीर में इसका स्थान जीभ का अग्रभाग होता है।

घ्राणेन्द्रिय

ज़िस करण के द्वारा जीव को गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध हो जाता है, उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं।[3] इसका स्थान स्थूल शरीर मे नाक के छिद्रों के मुख पर स्थित होता है।

यह पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में रहती है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में भी रहता हुआ जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है।

कर्मेन्द्रियाँ

पुरूष की कला में उपर्युक्त होने वाली उसकी इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरूष किसी कार्य को करने में समर्थ होता है। इनका विवरण इस प्रकार है :

---

1. जन्यते न विना येन करणेन निरूपणम्।
रूपस्य चक्षुराख्यं तं शिवमेव नमाम्यहम्।।-प॰ शि॰ स्तो,श्लोक - 29

2. रस्यन्ते क्षुभिता आपी येन तत् करणं खलु।
रसनाख्यं सदा वन्दे शिवदैवतमद्भुतम्।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 30

3. गन्धज्ञानं पुरूषस्य जायते येन साधितम्।
करणं तद् घ्राणनामशिवरूपं नमाम्यहम्।। -वही-, श्लोक - 31

वागिन्द्रिय

जिस इन्द्रिय के बिना पुरूष बोलने की क्रिया को कर ही नही सकता है, उस इन्द्रिय को शिव का वागिन्द्रिय कहा जाता है।[1] वाक् नामक इन्द्रिय का स्थान प्राणी के मुख में होता है और अंशतः नाक में भी। वाणी का उच्चारण प्राण के आघात से होता है। इस वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं। वास्तव में परावाक् भगवती ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में अभिव्यक्त होती है।

हस्तेन्द्रिय

पाणि का कार्य आदान अर्थात् ग्रहण करना होता है। इस इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान प्राणी के हाथ होते हैं। परन्तु अन्य अङ्गों से भी आदान किया जा सकता है। अतः यह इन्द्रिय सामर्थ्य अन्य अङ्गों में भी, जैसे मुख में, पैर में, बगल में भी होती है तो उन अङ्गों के भीतर भी पाणि नामक करण विद्यमान रहता है। जिस करण के द्वारा जीव को वस्तु ग्रहण करने में समर्थ माना गया है, आचार्यानुसार उस पाणि अर्थात् हस्त नाम इन्द्रिय के रूप में शिव ही ठहरे हुये है।[2]

पादेन्द्रिय

गमन करने, चलने फिरने अथवा अपने जाने की क्रियाओं का साधन पादेन्द्रिय कहा जाता है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान पैर है। परनतु जिसके पास पैर नहीं होता उनके अन्य अङ्गों में यह सामर्थ्य होती है। पक्षी पंख से उड़ते हैं, रेंगने वाले जन्तु पेट के बल चलते है। जल जन्तु अन्य कई प्रकार से संचरण करते हैं। जिस इन्द्रिय के बिना आने-जाने का व्यापार होता ही नहीं उस पाद-इन्द्रिय संज्ञक शिवरूप करण को सिद्धजन प्रणाम करते हैं।[3]

---

1. समर्थो न विना येन पुरूषो वचनक्रियाम्।
   कर्तुं वाक्करणसंज्ञं तं शिवं प्रणमाम्हयम्।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 32
2. आदप्तुं हि पशुर्येन साधनेन प्रभुर्मतः।
   तस्मै पाणिसमाख्याय शिवाय नतिरस्तुमे।। -वही -, श्लोक -33
3. यदन्तरेण गमनव्यापारो नैव जायते।
   करणं तत् पादसंज्ञं शिवरूपं नमाम्यहम्।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 34

पायु इन्द्रिय

जिस इन्द्रिय के द्वारा शरीर के भीतर रहने वाले स्थूल मल को जीव बाहिर हटाकर उसका परित्याग करता है, उसे पायु-इन्द्रिय कहते हैं।[1] विसर्जन अर्थात् मलत्याग की क्रिया का साधन इन्द्रिय पायु कहलाती है। इसका मुख्य स्थान स्थूल शरीर में गुदा होता है। यह क्रिया क्षमता अन्य इन्द्रियों में भी होती है। यथा मूत्र त्याग जननेन्द्रिय से ही किया जाता है और मुख, आँख, नाक और त्वचा के छिद्र आदि भी मल के साधन बनते रहते हैं

उपस्थेन्द्रिय

आचार्यानुसार हेयता और उपादेयता के परिज्ञान के राहित्य में चित्त की विश्रान्ति को अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रिय "उपस्थ इन्द्रिय" कहलाती है।[2] उपस्थ इन्द्रिय का दूसरा नाम "आनन्दन" है। विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का साधन इन्द्रिय उपस्थ कहलाती है। इसका मुख्य स्थान स्थूल शरीर में जननेन्द्रिय होता है। यह क्षमता अंशतः शरीर के अन्य अङ्गों में भी पायी जाती है।

ये कर्मेन्द्रियाँ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर में भी अधिष्ठित होती है। ऐसी मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ भी जीव कला के सभी व्यापारों को कर सकता है।

भौतिक तत्त्व (पाँच महाभूत)

ये पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओं के परिणाम हैं। ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते है तो आकाश, वायु, अग्नि, जल अर्थात् "आप्" और पृथ्वी नामक स्थूल पाँच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। इसका विवरण इस प्रकार है :

---

1. येनान्तरस्थूलमलं पशुना त्यज्यते बहिः।
तस्मै पायुसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे।।-प०शि०स्तो०, श्लोक - 35

2. हेयाहेयाऽपरिज्ञान चित्तविश्रान्तिलक्षणम्।
उपस्थसंज्ञां बिभ्राणं शिवमेव नमाम्यहम्।। -वही -, श्लोक -36

आकाशतत्त्व

वास्तव में शब्द तन्मात्र तत्त्व ही प्रक्षुब्ध होकर अवकाश देने में समर्थ बन कर स्थूल आकाश तत्त्व कहलाता है।[1] आकाश का गुण शब्द है। इसी महाभूत के भीतर शब्द की तरंगे चलती हैं।

वायु तत्त्व

वायु स्पर्श गुण प्रधान है। क्षोभ को प्राप्त हुआ स्पर्शतन्मात्र तत्त्व ही पशु प्रमाताओं को जीवित रखता हुआ पवन नाम से प्रसिद्ध है। उस पवन अर्थात् वायु तत्त्व के रूप में भी शिव ही ठहरे हुये हैं।[2] सूक्ष्म स्पर्शतन्मात्र को, जब प्रक्षुब्ध किया जाता है तो वह स्थूल बनकर पवन अर्थात् वायु के रूप को धारण कर जाता है। उस रूप में वह पशु प्रमाताओं का प्राण बनकर उन्हें जीवित रखता है। प्राण अपान की गति ही जीवन है और वही जीवन के समस्त अन्य व्यापारों का आधार है। उनके समाप्त हो जाने पर प्राणी जीवित नहीं रहता है। इस स्थूल तत्त्व को पवन या वायु कहते हैं। स्पर्श तन्मात्र इसका उपादान कारण है। तभी स्पर्श वायु का विशेष गुण है।

अग्नि तत्त्व

सूक्ष्म रूपतन्मात्र तत्त्व ही प्रक्षुब्ध होकर और दाहकत्व आदि स्वभावों वाला बनकर तेज या अग्नि नाम से प्रसिद्ध हुआ है, आचार्यानुसार यह भी शिव की ही अभिव्यक्ति है।[3] सूक्ष्म रूपतन्मात्र जब श्रीकण्ठ नाथ ही प्रेरणा से प्रक्षुब्ध होकर स्थूल बन जाता है तो प्रभास्वर शुक्ल रूप वाले अग्नि तत्त्व रूप को धारण करता है। अतः रूप अग्नि का विशेष गुण है। अग्नि से दाहन, पाचन, प्रकाशन आदि अनेकों कार्य होते हैं।

---

1. क्षुभितं शब्द तन्मात्रमवकाशप्रदायकम्।
आकाशनामविख्यातं वन्दे परशिवं मुदा।। –प. शि. स्तो., श्लोक - 37

2. क्षुभितं स्पर्शतन्मात्रं सञ्जीवनकरं पशोः।
पवनाख्यासुविख्यातं शिवदेवं नमाम्यहम्।। –वही –, श्लोक –38

3. क्षुभितं रूपतन्मात्रं दाहकत्वादिधर्मकम्।
तेजोभिधानविख्यातं नमामि शिवदैवतम्।। –प. शि. स्तो., श्लोक - 39

जल तत्त्व

रस तन्मात्र ही प्रक्षुब्ध होकर जीवों के शरीरों का आप्यायन आदि करने वाला "आप:" अर्थात् जल तत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस जलतत्त्व के रूप में शिव ही ठहरे हुये है।[1] सूक्ष्म रस तत्त्व जब प्रक्षुब्ध हो जाता है, तो स्थूल जल तत्त्व के रूप में प्रकट होता है। तभी रस इस जल का विशेष गुण है। जल से प्राणियों के शरीर की आप्यायन अर्थात् पुष्टि होती है। अत: इस तत्त्व का नाम "आप:" ऐसा प्रसिद्ध हुआ है। सिद्धयोगी इसके रूप में भी शिव को देखते हुए उसी को प्रणाम करते हैं।

पृथिवी तत्त्व

यह परमशिव का छत्तीसवां तत्त्व है। प्रक्षोभ को प्राप्त हुआ गन्ध तन्मात्र समस्त जगत् को धारण करने वाला बनकर धरा अथवा पृथ्वी इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस पृथ्वी तत्त्व रूपी शिव को आचार्य प्रणाम करते है।[2] सूक्ष्म गन्ध तन्मात्र ही प्रक्षुब्ध होकर जब स्थूल रूप को धारण करता है, तो पृथ्वी तत्त्व के रूप में प्रकट हो जाता है। तभी तो गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है। पृथ्वी सारे जीवगणों को धारण करती है। अत: इसे धरा कहा जाता है। अति विशालता से फली हुई है, इसलिए पृथ्वी कहलाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य महोदय अमृतवाग्भव के अनुसार - एकमात्र पारमार्थिक महासत्ता परमशिव ही है। वह ही जगत्-क्रीड़ा के लिये अपने को शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। अत: जगत् भी उन्हीं का आभास है। इनका यह सिद्धान्त सर्वथा काश्मीर शैवचार्यों एवं अद्वैत शैवागमों के अनुकूल हैं। अत: इसके अनुसार भी सब कुछ शिव ही हैं।

(3). जगत् : इस प्रकार हम देखते है कि इन छत्तीस तत्त्वों के रूप में शिव की शक्ति का विकास जगत रूप में होता है। वास्तव में परमेश्वर सर्वथा परिपूर्ण है। अत: वह

---

1. क्षुभितं रसतन्मात्रमाप्यायन करं पशोः।
अबाख्यया ख्यातिमाप्तं शिवमेव नमाम्यहम्।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 40

2. क्षुभितं गन्धतन्मात्रं धारकं सकलस्य च।
पृथिवीत्याख्ययाख्यातं वन्दे परशिवं प्रभुम्।। -प. शि. स्तो., श्लोक - 41

आत्मदृष्टि का भी विकासक है और प्रमेयदृष्टि का भी। आत्मदृष्टि से देखने पर सब कुछ आत्म-परमेश्वर ही है और पूर्ण ही है, प्रमेय-दृष्टि से देखने पर जगत् एक संकुचित पदार्थ है और अपूर्ण है इसीलिए जड़ है। ऐसा व्यवहार में कहा जाता है। इस व्यवहार का प्रकाशन भी परमेश्वर का ही विलास हैं। परमेश्वर सर्वथा, सर्वत: परिपूर्ण होता हुआ ही अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता के विलास से अपने ही आप को संकुचित स्वरूप जीव और जगत् के रूप में प्रकट करता रहता है, इस तरह से पूर्ण होता हुआ भी अपने आपको अपूर्ण जैसा जानता हैं। उसका इस तरह का ज्ञान संकोच ही जगत् है, इसी प्रकार समस्त जगत् को एकमात्र आत्म-परमेश्वर के ही रूप में देखा जाए तो सब कुछ पूर्ण परमेश्वर ही हैं। इसीलिए उपनिषद् में भी कहा गया है कि जब सब कुछ परमेश्वर ही हैं तो यह सब कुछ परिपूर्ण ही है, यह परिपूर्ण उस परिपूर्ण परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है। अत: पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ है।[1] परमशिव जगत् के आन्तर और बाह्य विषय को प्रकाशित करता हैं। जगत् उत्पत्ति विनाशशील होने के कारण जड़ है और दूसरी ओर आत्मा चिद्रूप हैं, जगत् को आभासित करना ही आनन्दरूपता का परिचायक हैं।

(क) अन्यमत खण्डन : जगत्-प्रपञ्च के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न विचारधारायें उपलब्ध होती हैं। कुछ स्थूल बुद्धि वाले दार्शनिक (चार्वाकादि) पृथिवी आदि तत्त्वों के आकस्मिक संयोग से इसका सत्ता में आना मानते हैं। कुछ स्वभाव तथा कुछ काल को इसका कारण मानते हैं। आचार्य ने इस प्रकार के निम्नकोटि के दर्शनों का निरूपण करने की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और वेदान्त मत का पक्ष प्रस्तुत करना श्रेष्ठ समझा हैं। अत: इन मतों की उन्होंने भी अपरिपक्वता को बतलाकर वैयाकरणों के स्वातन्त्र्यवाद का सम्यक् मण्डन किया हैं। उनका मानना है कि आरम्भवाद के अनुसार एक विद्यमान वस्तु से अविद्यमान वस्तु का निर्माण किया जाता है, जैसे न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर एक वस्तु सत् है और वह नित्य परमाणुरूप द्रव्य से अविद्यमान (असत्) जगत् का निर्माण करता है। इसी प्रकार बौद्धादि के अनुसार जो वस्तु पहले कुछ थी ही नहीं, उसे

1. "पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।" -बृ. उप., 5/1

"है" ऐसी वस्तु से यह जगत् पैदा किया गया है। अर्थात् बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। तदनुसार जो कुछ भी हैं वर्तमान क्षण में ही है, पूर्वक्षण में उसका अभाव ही था। उस अभाव में से इस वर्तमान क्षण में भाव की उत्पत्ति हो गई। दूसरे क्षण में यह भाव पुनः अभाव में विलीन हो जायेगा। इस तरह से यह अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं। अतः यह भी एक प्रकार से आरम्भवादी ही हैं।

इस प्रकार के आरम्भवादियों का खण्डन करते हुए आचार्य का कहना हैं कि जिस वस्तु का पहले अस्तित्व ही नहीं होता है, उससे कभी भी किसी वस्तु की सत्ता सम्भव नहीं होती है। जैसा की सांख्यवादी भी कहते हैं।[1] अतः ऐसा मत तो सामान्यजनों द्वारा भी अमान्य हैं।

दूसरे प्रकार के आरम्भवादियों अर्थात् "है" वस्तु से नहीं, वस्तु की उत्पत्ति मानने वालों का खण्डन करते हुये भी उनका कहना है कि ऐसा भी कभी नहीं देखा गया है कि कहीं असत् से सत् का निर्माण होता हो। जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है।[2] दूसरी बात इस प्रकार की विचारधारा में हीनता वाली यह है कि इसमें ईश्वर और पृथिवी आदि परमाणुओं के अस्तित्व तथा ईश्वर के सर्वशक्तिमान् सिद्ध करने में भी बाधा होती है, क्योंकि सर्वशक्तिमान् में कर्तृमकर्तु, अथवा अन्यथाकर्तुम की पूर्ण सामर्थ्य होती है। परन्तु यदि न्याय-वैशिषक वाले कहें कि ईश्वर परमाणु नहीं बन सकता है तो उसके सर्वकर्तृत्व की हानि होती है और यदि वह बन जाता है, तो उस पर जड़तत्व का दोष आ जाता है - आदि-आदि।

सांख्य योगवादियों के परिणामवाद के अनुसार एक अस्तित्व युक्त वस्तु (कारण) परिवर्तित हो कर दूसरे रूप (कार्य) में दिखाई देती हैं। जैसे दूध का दही बन जाना, देखने में दही भी दूध से गुणदोषादि सभी बातों में पृथक् सा दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह दूध का ही रूपान्तरितरूप होता है। इस प्रकार के परिणाम को विकृत अथवा विरूप परिणाम कहते है। स्वर्ण का कटककुण्डलादि के रूप में तथा मिट्टी का घटादि रूप में परिवर्तित

---

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम्।। -सं. का. - 9
2. नासतो विधते भावो, नाभावो विधते सतः। -भ.गी., 2/13

होना अविकृत अथवा सरूप परिणाम कहलाता हैं। अतः इनके अनुसार प्रकृति पुरूष के सान्निध्य से विविध रूपों में परिणत होकर जगत् - प्रपञ्च का निर्माण करती है। इस मत में प्रकृति जड़ होती है और पुरूष चेतन होते हुये भी निष्क्रिय एवं उदासीन होता है।

वह प्रकृति में अपने प्रतिबिम्ब के पड़ने से उसमें प्रकाशित होने वाले सुख-दुःख को अपना मानकर कर्त्ता-भोक्तादि होने का अनुभव करता है वास्तव में यह प्रकृति का ही विकार होता है और उसे अपना समझ कर बन्धन में पड़ता है परन्तु इस मत में सब से बड़ा दोष यह हैं कि जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरूष का मिलाप स्वयं तो कदापि नहीं हो सकता और दूसरा कोई करवाने वाला होता नहीं, तो फिर सृष्टि, बन्ध-मोक्ष इत्यादि कैसे सम्भव हो सकते है? यद्यपि योग वालों ने प्रकृति-पुरूष के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी मानी है, परन्तु वह भी एक पुरूष विशेष ही होता है।[1] कोई सार्वभौम, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान तत्त्व नहीं। पाशुपत, वैष्णव, विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजादि भी परिणामवादी ही है। अतः उनका मत भी यथार्थ नहीं है।

विवर्तवादी वेदान्तियो के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म में विवर्तमात्र से दिखाई देता है। विवर्त से तात्पर्य है। अत्यन्त असत् की प्रतीति होना। जैसे रज्जु में सर्प। इसी प्रकार ब्रहमरूप अधिष्ठान में जीव के जगत का भ्रम हुआ करता है। अर्थात् यह जगत् अत्यन्त असत् होते हुये भी अज्ञान के कारण सत्य-सा दिखाई देता है। अतः ज्ञान से अज्ञान को हटाने से सब दुःख दूर होकर मोक्ष मिल जाता है। परन्तु इस मत में भी सबसे बड़ा दोष यह हैं कि अविद्या कोई वस्तु ही नहीं, अर्थात् जगत् अत्यन्ताभाव रूप है, तो उसको प्रतीति कैसे होती है? यदि प्रतीति है, तो प्रतिभासित सत्ता को स्वीकार करना होगा और सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भ्रम कहना ही भ्रम होता हैं। इसीलिये ये सभी मत जगत् के अस्तित्व की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते है।

(ख) स्वातन्त्र्यवाद का मण्डन : आचार्य के अनुसार उपर्युक्त सभी मत न्यूनाधिक रूप में साधारण कोटि के अधिकारियों के लिये ही हैं। वास्तविक मत तो स्वातन्त्र्यवाद का है,

---

1. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः। -प. यो. दर्श., 1

जिसके अनुसार ये सभी विवाद (आरम्भवादी) कल्पित मात्र है और इनका मूल चिदात्मा[1] अर्थात् सच्चिदानन्द, पूर्णहन्ता-रूप, स्वात्माराम, अद्वितीय और परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूप महेश्वर ही है।[2] अतः इस सिद्धान्त के अनुसार एक पारमार्थिक सत्ता वाला महेश्वर अपनी अभिन्न रूप स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से स्वयं को आधार बनाकर किसी दूसरे साधन की अपेक्षा के बिना ही शिवादि धारण पर्यन्त तत्त्वों तथा शिव से लेकर सकल प्रमाताओं पर्यन्त समस्तजड़ चेतन प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयरूप विश्व प्रपञ्च को अभिव्यक्त करता हैं। इससे उसके अपने अक्षर रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। वह इस स्वातन्त्र्य के बल पर ही अपने परिपूर्ण रूप में अपूर्णता का आभास प्रकट करके आणवमल, अपृथक होते हुये भी पृथकता का प्रकाशन करके मायीय मल और परिपूर्णकर्ता होते हुये सीमित कर्तृत्व के अभिमान एवं शुभाशुभ कर्म की वासना से युक्त होकर कार्ममल का प्रकाशन करता है। अपनी असीमित चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों में संकोच करके सीमित सामर्थ्य वाला बन जाता है। उसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। जिससे वह स्वतन्त्र रूप शिव (पति) होता हुआ भी परतन्त्र रूप जीव्भाव (पशुभाव) का अनुभव करता है।[3]

यह परतन्त्रता ही सभी दुःखों का मूल होती है,[4] जो उसकी स्वेच्छा से ही अवकल्पित होती है।[5] इस प्रकार से आत्मा अपने स्वातन्त्र्य से ही अवकल्पित पाशबन्धनों द्वारा जीवभाव को प्राप्त होता हुआ भी किसी आनन्द का ही अनुभव करता है।[6] अर्थात् पतिदशा (शिवदशा) मोक्ष एवं जीवदशा (पशुदशा बन्धन) उसकी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के विलास मात्र ही है।

---

1. आरम्भ परिणामों वा विवर्त्तो वा चिदात्मनि।
   बालान् प्रत्येक विद्वांसं प्रति सर्वं प्रकल्पितम्।। -अ. वि., 3/18
2. स्वतन्त्रः सच्चिदानन्दः स्वात्मारामो महेश्वरः।
   परमोऽहम्महोरूपी स्वविलासो जयत्यसौ।। -तदेव, 3/2
3. स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता।
   शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते।। -अ.वि., 3/5
4. "दुःखमूलं पारतन्त्र्यं।" -तदेव, 3/2
5. "परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्तिकारणम्।" -अ.वि., 3/4
6. एवं स्वात्मा विलासेन कल्पितैः पाशबन्धनैः।
   जीवभावं भजन् कञ्चिदानन्दं बिन्दते मुहुः।। -तदेव, 3/22

वह इन दोनों दशाओं में एक आनन्द का ही अनुभव करता है, जिस प्रकार एक बालक अपने चारों ओर चक्कर लगाता हुआ गिरता है, पुनः उठता है और ऐसा करने में किसी आनन्द का अनुभव भी करता है।[1] तात्पर्य यह है कि परमशिव अपनी लीलामयी स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने ही आप को जीवरूपता से प्रकट करता रहता है। जिस तरह दर्पण में लील, पीतादि विविध वर्णों का आभासमात्र होने से दर्पण में कोई विकार नहीं आता, उसी तरह से परमशिव अपने भीतर कोई विकार न लाते हुये ही जीवता को प्रतिबिम्ब की तरह स्वयं अपने विलास से प्रकट करता रहता है। यही जीवता के अवभास का कारण है। इसी दशा में सुख-दुःख इत्यादि रूप भोगों के भोगने से और शुभाशुभ कर्मों के करने से नाना प्रकार के कष्टों को पाता है। एक योनि से दूसरी योनि में संचरण करता है। पुनः अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से ही श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरू के अनुग्रह से स्वयं के श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होने को जानकर सच्चिदानन्द रूप में विहार करता है। अर्थात् परिपूर्ण शिवरूप हो जाता है।[2] अतः परमसत्ता का स्वातन्त्र्य ही उसके विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय स्वरूपों में अवभासन का मूलकारण है। इसीलिये कहा गया है कि विलास अर्थात् स्वातन्त्र्य शिव रूप ही है और शिव स्वातन्त्र्यरूप ही।[3] अर्थात् स्वप्रकाश सर्वेश्वर्यसम्पन्न भगवान् परिपूर्ण स्वातन्त्र्य स्वभाव है और ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त सभी उसके अधीन है अर्थात् उसी की सत्ता से सत्तावान् होते हैं।[4] यही कारण है कि सदा पशु से लेकर देवता तक और मुर्ख से लेकर बुद्धिमान पर्यन्त आनन्दामृत-समुद्ररूप स्वातन्त्र्य को ही चाहते हैं।[5] इसीलिये आचार्य ने कहा है कि आत्मा स्वतन्त्र स्वभाव है और उसके स्वातन्त्र्य के प्रत्यभिज्ञान से पशु (जीव) को पशुपति अर्थात् परमशिव स्वरूपता की प्राप्ति हो जाती है।[6]

---

1. स्वासमन्ताद्यथा बालो भ्रान्त्वाः भ्रान्तः पतन भुवि।
   उत्तिष्ठति भ्रान्तिनाशे स्वानन्दनिरतो मुहुः।। –अ. वि., 3/21
2. श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रिपाद् ब्रह्मनिठष्तः।
   विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा।। –अ. वि., 3/23
3. विलासो न स्वतो भिन्न विलासादपि न स्वयम्। तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम्।। –तदेव 2/3
4. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशाऽनुगम्।
   स्वप्रकाशः स भगवान् स्वतन्त्रः परमार्थतः। –तदेव, 3/3
5. इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि।
   तस्मात् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं नान्यत् किमप्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम्।। –तदेव 3/24
6. "मरणमेव अपवर्ग।" –चा. सू.,

जगत् की सार-हीनता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है कि अगर परमार्थ दृष्टि
से जगत् असत् है। तब बुद्धिमान मानव को उसके होने से कोई लाभ नहीं होता और उसके
नष्ट हो जाने से कोई हानि नहीं होती। यह असत् जगत् वन्ध्या पुत्र के समान है। वन्ध्या
पुत्र के जीवित रहने से कोई लाभ नहीं होता और उसके नष्ट हो जाने से भी कोई हानि
नहीं होती।[1] जगत के समान ही कर्म भी असत् है वह चाहे पुण्यरूप हो, चाहे पापरूप हो,
असत् होने के कारण वह शुभ और अशुभ फल उत्पन्न नहीं करता। यह कर्म शशश्रृङ्गा के
धनुष के समान असत् है। शश-श्रृङ्ग का धनुष चाहे दृढ़ हो, चाहे अदृढ़ हो, उसमें कोई
लक्ष्यवेध नही किया जा सकता। इसी प्रकार असत् रूप कर्म निष्फल है।[2] अर्थात् जाग्रत,
स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। जिस जगत् में इन अवस्थाओं
का व्यवहार होता है, वह भी मिथ्या है। इस असत् जगत् में जो कर्म होते हैं। वे भी
असत् है जगत् कर्म का आधार है। जब आधार ही असत् है, तो उसमें आश्रित कर्म भी
असत् होगा।

स्वात्मविलास में प्रतिपादित

(4). महाविद्या →

(नैर्मल्य, ज्ञान विद्या) (अविद्या, अज्ञान, माया)

सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा (आत्मा) की स्वविलासरूपा और विद्या-अविद्या को प्रकाशन
करने वाली, सर्वथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या तथा तुयातीत भी जो जानती है, उसे महाविद्या
कहा जाता है। क्योंकि यदि सोने वाला सचमुच ही सोता हो, तो उसको यह नहीं मालूम हो
सकता कि "मै सोता था"। अतः सोना एक अवस्था मात्र ही है। तथा उसका जानने वाला
सोते हुये भी जागता रहता है, इसलिये उसको पूर्णज्ञान स्वरूप (महाविद्या) कहना उचित है।
इसी को "महामाया" नाम से भी अभिहित करना इसलिए उचित है कि यह "अघिटत

1. विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः।
वन्ध्यासुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते।। -वि., शा., श्लोक., 8

2. अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत्।
शशाङ्गं धनुर्यद्दृढ दृढमेव वा।। -तदेव, श्लो. 9

घटनापटीयसी" अर्थात् जो न हो सके, उसको भी कर दिखाने वाली शक्ति को माया कहते हैं। जो सर्वथा अज्ञेयरूपा हैं। वास्तव में वह महाविद्या से पृथक् नहीं। जैसे गौ के स्तन से निकाले हुये दूध में घी रहता है अथवा नहीं? इस प्रश्न के निर्णय में मानना होगा कि अवश्य ही रहता हैं। चाहे वह फिर घी के रूप में हो या नहीं। वह अवश्य "है" यह तो कहना ही होगा। इसी तरह आत्मतत्त्व जिस समय महामाया स्वरूप रहता है, उस समय यह कहना कठिन पड़ता है कि वह है या नहीं। इसी कारण भावात्मवादी बौद्ध, जैनादि कहते हैं कि आत्मस्वरूप नही है। वस्तुतः देखा जाए तो वह महाविद्या-स्वरूप ही हैं। अर्थात् सर्वदा प्रकाशित ही है, महामाया का अज्ञेयरूप स्वभाव ही यह है कि वह बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी मोहित कर जाती है, क्योंकि जिस प्रकार अपनी छाया का उल्लंघन अपने ही पैरों से कभी भी नहीं हो सकता अथवा पुत्र अपने पिता की उत्पत्ति को नहीं देख सकता, तथा नमक का ढेला समुद्र का पता नहीं बता सकता, उसी प्रकार इस आत्मविलास का पता बताया नहीं जा सकता। इसीलिए यह नहीं हो सकता कि किसी वस्तु का पता ज्ञात न होने से वह वस्तु ही नहीं है।[1] जैसे छाया का उल्लंघन न होने से छाया है, पिता की उत्पत्ति को न देखने पर भी पिता और नमक से समुद्र का पता न लगने पर भी उसका अस्तित्त्व रहता ही है। इसीलिए उसको महाविद्या और महामाया कहा गया है। यह महाविद्या महामाया स्वरूपिणी महाअमा है। जैसे अमावस्या को चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से अपने आत्मस्वरूप सूर्य में सूर्यरूप से ही विद्यमान रहता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण अमाएँ (मायाशक्तियाँ) अपने आत्मस्वरूप से एक ही अधिष्ठान मे आज्ञात रूप से विद्यमान रहती ही है।

इसीलिए इस आत्म-स्वरूप को महामाया कहा जाता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर जैसे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अमा भी एक प्रकार से पूर्णिमा ही है। अर्थात् उस दिन भी सोलह कलाएँ अपने आत्मस्वरूप सूर्य में पूर्णरूप से विकसित होकर विद्यमान रहती हैं, क्योंकि विकसित होना ज्ञान का स्वभाव होता है। इसलिए जिस आत्मरूप अधिष्ठान में सम्पूर्ण पूर्णिमाएँ विकासभाव से अवस्थित होती है, उस पूर्णमासी को महाविद्या के नाम से

---

1. अतिदूरात् सामीप्यादि इन्द्रियधातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद अभिभवात समानामिहाराच्च।। -सं. का., 7

अभिहित करना उचित ही है। आत्मा (परमसत्ता) का अद्वैत तत्त्व एवं सर्वदा परिपूर्ण होना ही उसके महामाया एवं महाविद्या रूपों में प्रकाशित होने की सार्थिकता का परिचायक हैं।

महाविद्या के विलास द्वारा प्रकाशित होने के कारण विद्या एवं अविद्या चेतन कही जाती हैं और पृथक् - पृथक् रूप से अपूर्ण होने के कारण जड़ है।[1]

कुछ वेदान्तादि दार्शनिकों द्वारा विद्या को चेतन और अविद्या को जड़ माने जाने के अनौचित्य का निराकरण करते हुए[2] कहा गया है कि यदि आत्मा को प्रकाशित करने के कारण अविद्या को भी चेतन ही कहा जाना चाहिए।[3] यदि अविद्या को आत्म-प्रकाशिका होने[4] के कारण चेतन ओर उसकी अभाव स्वरूप होने से अविद्या को जड़ कहा गया है, तो विद्या द्वारा आत्मा का प्रकाशनमात्र करने और उसका प्रच्छादन न करने के कारण वह एकाङ्गी होने से पूर्ण नहीं हो सकेगी।

दूसरे यदि अविद्या को अभावरूप मानने से वह जगत् की उत्पादिका हो ही नहीं सकती, तो यह मत अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने वाले बौद्धों की भान्ति असंगत है।[5] इसलिए उसमें जड़ता का दोष आ जाएगा। इसी प्रकार अविद्या के द्वारा जगत् का प्रकाशनमात्र करने एवं उसका प्रच्छादन न करने से उसके भी विकलांगी होने से वह भी पूर्ण (चेतन) नहीं कही जा सकेगी।[6] क्योंकि अपूर्ण को ही जड़ और पूर्ण को ही चेतन कहते है, अतः पूर्णदृष्टि (पूर्वज्ञान, आत्मदृष्टि) परमेश्वर है, चेतन है। जिसमें पूर्ण और अपूर्ण दोनों भाव होते हैं, वहीं

---

1. विलासोल्लासितत्वेन विद्याऽविद्ये तु चेतने।
   अपूर्णत्वाज्जते ते स्तो जड़ाज्जड़े ऽतः।। -अ.वि., 4/2
2. विद्याऽजडा जडाऽविद्या इति केचिद्यदूचिरे।
   अविचारितमेवास्तु रमणीयं सुदूरतः।। -अ.वि., 4/3
3. स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेदजडा ततः।
   जगत्प्रकाशकत्वेनाऽविद्या कि नाऽजडा भवेत्।। -तदेव, 4/4
4. स्वात्मप्रकाशिका विद्या स्वात्मप्रच्छादिका न हि।
   एकाङ्गविकलत्वेन कथं पूर्ण भवेदहो।। -तदेव, 4/5
5. अविद्याऽभावरूपा चेज्जगदुत्पादिका कथम् यद्यसत्यभावतो भावोत्पत्तिरङ्गीकृता न किम्।
   भवद्भिरास्तिकैरेवं मतं चेदास्तिका अहो सन्तु धन्या भवन्तोऽपि बौद्धराद्धान्तपोषकाः।। -तदेव, 4/15-16
6. जगत्प्रकाशिकाऽविद्याजगत्प्रच्छादिका न हि।
   अतो नाऽर्हतिपूर्णत्वमविद्या विकलाङ्गिनी।। -तदेव, 4/6

परिपूर्ण, परमसत्ता (आत्मा) अभिहित होता है। अतः आत्मस्वरूप तो पूर्ण है और उसकी पूर्णता आपेक्षिक नहीं, प्रत्युत् वस्तुतः है।[1] इस बात के लिए श्रुति, स्मृति आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ और स्वानुभव प्रमाण हैं

यदि नश्यमानता के कारण अविद्या को जड़ कहा गया है, तो विद्या भी उसकी प्रतियोगिनी होने के कारण अनायास ही नश्यमान् होने के कारण जड़ सिद्ध हो जाती है।[2] यदि जगत् के असत् होने से अविद्या के अतीव निष्प्रयोजनत्व से उसे जड़ कहा जाता है।[3] तब आत्मा के भी स्वयं प्रकाश होने से विद्या, जैसे सूर्य प्रकाशित करने के लिए दीपक का भी निष्प्रयोजनत्व सिद्ध हो जाने से वह जड़ ही कही जायेगी।[4] यदि मुर्ख को पढ़ाने वाला अध्यापक मुर्ख बन जाता है अथवा स्वयं प्रकाश सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करने के कारण स्वयं जड़ हो जाता है, तब तो जड़ को प्रकाशित करने के कारण अविद्या को भी जड़ माना जा सकता है, परन्तु ऐसा न होने के कारण इसे भी जड़ नहीं कहा जा सकता।[5] यदि कुछ दार्शनिकों द्वारा जीव को स्वात्मविज्ञान में सहायता देने के कारण. विद्या को चेतन कहा गया है और इसके विपरीत अविद्या को जड़, तो ऐसे स्थूल[6] दृष्टि वालों से पूछा जाता है कि जीवता विद्या के कारण होती है अथवा अविद्या के कारण? यदि वे अविद्या को जीवत्व की उलासिनी मानते है, तो वह प्रकाशन स्वभाव के कारण चेतन ही कही जायेगी।[7] यदि अविद्या को अभावरूपिणी न मान करके विपरीत ज्ञानरूपा माना गया है, तो उसकी जड़ता कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती है,[8] क्योंकि विद्या के यथार्थ और अयथार्थ

---

1. अपूर्णं जड़मित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते। आपेक्षिकं तु चैतन्यं पूर्णं न परमार्थतः। –अ.वि., 4/7
2. यद्युच्येत जडाऽविद्या नश्यमानतया ननु।
   विद्याऽपि नश्चमानत्वाज्जडा भवितुमर्हति।। –अ.वि., 4/8
3. नास्त्येव यज्जगद्रूपोल्लासने किं प्रयोजनम्।
   निष्प्रयोजनतया सा यद्यविद्या जडा भवेत्।। –तदेव, 4/9
4. नास्ति विद्या यदि व्यर्था स्वप्रकाश प्रकाशिनी। तदा भानोः प्रकाशाय दीपाऽपेक्षा भवेन्ननु।।
   तदा स्वयम्प्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका। निष्प्रयोजनतया सा जडा विद्या न किं भवेत्।। –अ.वि., 4, 18-10
5. जडप्रकाशकत्वेन जडाऽविद्या भवेद्यदि। अध्यापकोऽपि मूर्खस्य मूर्ख एव भविष्यति।।
   स्वयम्प्रकाशस्य भानोरन्धकारप्रकाशनात्। जडत्वं स्याद्यदि ततोऽविद्याऽपि जडतां भजेत।। –अ.वि. 4, 11-12
6. जीवस्य स्वात्मविज्ञानसाहाय्यकरणादसौ। चेतना कीर्त्यते विद्या इति चेत् स्थूलदृभवान्।। –अ.वि., 4/19
7. जीवता कुत आयाताऽविद्यया वाऽथ विद्यया। अविद्यया चेत् जीवत्वोल्लासिनी चेतना न किम।। –तदेव 4/20
8. विपरीपज्ञानरूपाऽविद्या नाऽभावरूपिणी। इति चेज्जडता तस्याः सुतरां नैव सिद्ध्यति।। –तदेव 4/17

होने पर भी वह विद्यारूप से सत् ही होती है। अतः चेतन होती है। सम्यक् ज्ञान या विपरीत ज्ञान केवल-सत् (केवली) के आधार पर ही (केवली) कल्पित होता है और दोनों रूपों में ज्ञान (चेतन) ही होता है। तथा वह (सत्वस्तु) मयूराण्ङ रसन्याय से पूर्ण समरस हैं। अर्थात् उस सत् वस्तु में आपेक्षित "नही" और "है" इन दोनों के समरस आधार में विद्या एवं अविद्या इन दोनों का बीज है। वह मूलभूत समरस तत्त्व ही अपने विलास के द्वारा कल्पना करता हुआ एक ओर से विद्या के रूप में और दूसरी ओर से अविद्या के रूप में प्रकट होता रहता हैं। इसी को आत्मविलास रूप होने के कारण महाविद्या, महामाया, पूर्णस्वातन्त्र्य तथा पूर्ण चैतन्य कहते हैं।[1] अतः अमृतवाग्भव आचार्य के मत में विद्या और अविद्या दोनों पारमार्थिक नहीं और इन सभी रूपों में सर्वतः स्वात्मरूप महाविद्या प्रकाशित हो रही है,[2] अतः सच्चिदानन्द स्वरूप पारमार्थिक सत्ता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, इसलिए स्वात्मा के एकमात्र उल्लास होने के कारण कल्पक, कल्पना तथा कलृप्त सच्चिदानन्दस्वरूप ही है।[3] यह स्वात्मरूप महाविद्या सदसद्वर्जित (अनिर्वचनीय) और सदसद्व्यवहार की अधिष्ठान (निर्वचनीय) रूप है, विश्वोत्तीर्ण है और विश्वमयी भी है।[4] यह महाविद्या शिवरूप, अपारा, भव (संसार) रूर्ण सागर की सार (शिव की शक्ति) गुरू श्रेष्ठरूपिणी कृपा की समुद्र, भक्तों के लिए अमृत की वर्षा करने वाली मेघश्रेष्ठ उमाकारा, ओंकारा अपने स्वाभाविक सौन्दर्य में रमण करने वाली और परमानन्दरमणी है।[5]

आचार्य के अनुसार विपरीत ज्ञान को ही मल कहा गया है, जो कि संसार का प्रकाशन करने वाला होता है। अतः अविद्या (ज्ञान) को ही मल कहा गया है। संसारी भाव का उच्छेदन (नाश) करने वाले यथार्थ ज्ञान को नैर्मल्य (विद्या) कहा गया है।[6] तात्पर्य यह है कि आपेक्षिक विद्या एवं अविद्या ही निर्मलता तथा मलिनता है, जिस से संसार की उत्पत्ति एवं विनाश होता है।

---

1. परीता विपरीता वा विद्या विद्यातया तु सत्। वैपरीत्यं सौपरीत्यं कल्पितं केवले सति।। -तदेव 4/18
2. अस्मन्मते त्वविद्या वा विद्या वा नास्ति तत्त्वतः। महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वतः।। -तदेव 4/21
3. कल्पकः कल्पना कलृप्तं स्वात्मोल्लासैकमात्रकम्। सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन।। -अ. वि., 4/22
4. सदसद्वर्जिता सैषा सदसद्व्यवहारभूः। विश्वोत्तीर्णा विश्वमयी स्वात्मरूपा विराजते।। -तदेव 4/23
5. शिवाऽऽकाराऽपारा भवजलधिसारा गुरूवरा कृपापारावारा भजदमृतधाराधरवरा।
   उमाकारोङ्कारा निजसहजसौन्दर्यरमणी महाविद्या सेयं जयति परमानन्दरमणी।। -तदेव 4/24
6. मालिन्यमन्यथा ज्ञानं संसारोल्लासकारणम्। ज्ञानं यथार्थं नैर्मल्यं संसारोच्छेदकारणम्।। -अ.वि., 5/21

मालिना और नैर्मल्य से अतीत जो पूर्ण नैर्मल्य तत्त्व है, वह तो सर्वत्र, सर्वदा तथा सर्वज्ञ, परिपूर्ण चैतन्य स्वयं प्रकाशस्वरूप, परिपूर्णस्वतन्त्र अथवा महाविद्यास्वरूप परिपूर्ण परमसत्ता ही है, अभिप्राय यह है कि चाहे जीव भाव हो अथवा शिवभाव दोनों कल्पित हैं एवं दोनों ही अपेक्षा से मलिन तथा निर्मल कहे जाते है, जो कि कल्पित ही हैं। अतः वह मालिन्य और नैर्मल्य के रूपों में स्वयंमेव प्रकट होता हुआ उन रूपों में ठहरता है। इसलिए वे दोनों तद्रूप होते हुए उससे भिन्न नही है। तथापि वह समझाने के लिए उनसे अतीत भी कहा जाता है। मालिना और नैर्मल्य के उदय और लय के होते रहने पर भी उसके पूर्ण नैर्मल्य स्वरूप में कोई भी विकार नही आता है, वह सदैव वैसे का वैसा ही बना रहता है।[1] इस तरह इन दोनों से प्रभावित न होने के विचार में उसे इनसे अतीत कहा जाता है। जैसे शशश्रृंगादिक कल्पित होने मात्र से (उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न होने से) ही उनका व्यवहारिक जगत् में किसी प्रकार से स्पर्शादिक नही हो सकता है, वैसे ही वस्तुसत् परमात्मस्वरूप से कल्पित मलों का स्पर्श नहीं हो सकता है। अतएव वह मलों से नित्यमुक्त ही है। चूंकि परिपूर्ण नैर्मल्य आत्मास्वरूप ही है। उससे पृथक कुछ नही। अतः वह महाविद्यास्वरूप "आत्मविलास" ही नाना प्रकार से प्रकाशित हो रहा हैं।[2]

(5). पूर्णकृर्तत्व (पूर्णस्वातन्त्र्य) : आत्मस्वरूप स्वभावशक्ति को ही विलास कहा जाता है। तथा उसी के एकमात्र अधिष्ठान पर उसी के कारण अथवा उसी की फलस्वरूप इच्छादि अनन्त शक्तियां होती हैं, जिन्हें साधारण विभाग से समझने के लिये तीन भागों में विभक्त किया जाता हैं। अत्यन्त स्थूल शक्ति का नाम क्रिया, उससे सूक्ष्म शक्ति का नाम ज्ञान तथा उससे भी सूक्ष्म शक्ति का नाम इच्छा कहा जाता है। एवं इन तीनों में अनुगत महाकारण - रूप शक्ति का नाम ही विलास हैं, यह भी इन कल्पित तीन के कारण चौथी विलास (आनन्द) हैं तथा विलास की ही पराकाष्टा को समझने के लिए परमात्मा, परमशिव (चित्) कहते हैं। वस्तुतः विलास तथा आत्मा (चिदानन्द) भिन्न नहीं। इच्छादिक भी पृथक् नहीं होती

---

1. सम्पूर्णमलनैर्मुल्यशासनोल्लासनोदितः।
मलाऽस्पृष्टो विजयते परमः परमेश्वरः।। - अ.वि., 5/1

2. उभाभ्यामप्यतीतं यत् पूर्णं नैमल्यमेव तु।
स्वात्माऽभिन्नं महाविद्यास्वरूपं तद्विराजते।। - तदेव, 5/22

है। परन्तु यह रहस्य बिना सद्गुरू की उपासना से प्राप्त नहीं होता। पारमेश्वरी महाशक्ति (आत्मस्वरूप) की पूर्ण स्थूल दशा का नाम ही क्रिया शक्ति हैं। इस क्रिया शक्ति के कारण ही कर्तृत्व तथा अर्कृतत्व इन दोनों भावों का आत्मस्वरूप में विलास होता है। यदि क्रियाशक्ति का विकास न हो, तो कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व उत्पन्न नहीं हो सकते। विश्वसृष्टि में आत्मस्वरूप की पूर्ण विकसित अवस्था में क्रियाशक्ति का ही सर्वत्र बोलबाला होता है। यद्यपि जिन की श्रवण शक्ति, मनन-शक्ति एवं निदिध्यासन शक्ति पूर्णरूप से विकसित होती है, उनको तो शेष सूक्ष्म शक्तियों की स्थिति का भी सब कुछ ज्ञात हो जाता है, किन्तु साधारणजन तो क्रिया शक्ति को ही देखा करते हैं। अत्यन्त क्रिया प्रधान पुरूषों को गौतम (न्याय) कणाद (वैशेषिक) आदि आचार्य समझाते हैं कि नित्य द्रव्यों के संयोजन - वियोजन आदि से विरचित विश्व की सृष्टि का कारण (निमित्त) होने से आत्मा (ईश्वर) विश्वकर्त्ता हैं। वेदान्ती लोग इच्छा प्रधान पुरूषों को जगत् का आकाश - पुष्प के समान मिथ्या समझाते हुए आत्मा (ब्रह्म) को अकर्ता कहते हैं। सांख्य वाले, ज्ञान प्रधान पुरूषों को आत्मस्वरूप समझाने के लिए प्रकृति - पुरूष विवेक करना तथा योग वाले ईश्वर को अनुग्रह अथवा चित्तवृत्ति निरोध से आत्मस्वरूप चित् (चिति) प्रकाशित होना बतलाते है। परन्तु इन सभी बातों के सीमित होने के कारण पूर्णदृष्टि से निराशंस पुरूषों को उनकी पूर्णाहन्ता की अविचलित एकरस आत्मस्वरूप अवस्थिति रखने के लिए आरम्भ परिणाम तथा विवर्त इन तीनों से अतीत अथवा निर्विवाद, स्वयं सिद्ध अनुभव से सिद्धसम्प्रदाय के अनुसार "आत्मविलास" में आत्मा के पूर्णकर्त्तव्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया हैं। जिसके अनुसार सर्वदा, सर्वत्र "अहम्" रूप से परिपूर्ण परशिव कर्तृत्व तथा अर्कृत्व में समरस भाव से व्याप्त रहता है। अतः ऐसे परमात्म-स्वरूप को पूर्णकर्त्ता कहा जाता हैं। सम्पूर्ण जगत् (जाग्रतक, स्वाप्न, सौषुप्त) को स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात हो जाता हैं कि यह सम्पूर्ण "अहम्" से परिपूर्ण है, अर्थात् अहम् ही हैं। द्वैतदृष्टि में "अहम्" से संचालित है, परन्तु अद्वैतदृष्टि में "अहम्" अतिरिक्त मायाजाल होने के कारण "अहम्" ही सत्य है। परन्तु इससे भी परे अर्थात् कल्पित आपेक्षिक द्वैत अथ चअद्वैत इन दोनों को समरस परिपूर्ण ही देखने पर ज्ञात हो जाता है कि

वस्तुत: इनमें ओत-प्रोत भाव से एक ही वस्तु परशिव व्याप्त है। जो कि छत्तीस तत्त्वों का भी परस्वरूप शिव (कल्याणस्वरूप एवं आत्मस्वरूप) है, साक्षी, चिन्मात्र (प्रकाशमान्) होने से सब कुछ यही है।[1] क्योंकि प्रकाशमान् के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं हो सकती। जो (न्यायवादी) इस को विश्वकर्त्ता कहते है और जो (वेदान्ती) उसे अकर्ता कहते हैं, वस्तुत: दोनों ही बातें आपेक्षिक अर्थात् कल्पित होने से असत् (कल्पितमात्र) है।[2]

कल्पित की जब आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं, तब उसका कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व कहां हो सकता है? केवल अकर्तृत्व मानने से जड़ता और केवल कर्तृत्व मानने से द्वैतता का आरोप हो जाता है। अत: अद्वितीय स्वात्ममात्र में कर्तृता - अकर्तृता कहां, कैसे ?[3] यदि वेदान्तियों द्वारा ऐसा कहा जाए कि जो वस्तु है ही नहीं तन्निरूपित कर्तृत्व का आरोप कहां किया जायेगा ? इसलिए आत्मा अकर्ता है।[4] जैसे शशश्रृङ्गका कोई कर्ता नहीं होता है, उसी प्रकार जगत् का भी कर्ता नही है,[5] उनका इस प्रकार आत्मा को अकर्ता कहना उचित नही बनता है। कारण यह है कि इस बात को कि परमात्मा है - वह कर्त्ता है - अथवा अकर्त्ता है, कुछ भी मानने पर "मै हूं" इस बात को तो मानना ही पड़ेगा। यहां पर अहन्ता के अस्तित्व स्वीकार करने से उसके चेतनरूप एवं पूर्णस्वतन्त्रत्व को मानना ही पड़ेगा। अतएव आत्मस्वरूप का अकर्त्ता होना सिद्ध नहीं होता। एवं यदि आत्मा के अकर्तृत्व का अकर्त्ता होना सिद्ध नहीं होता। यदि आत्मा के अकर्तृत्व को मानने में ऐसा करते हों कि मै सर्वथा वर्तमान प्रत्ययगोचर होने से सर्वदा विज्ञात हूँ, इसलिये अकर्ता ही हूँ।[6] इस प्रकार प्रत्यक्ष चिन्मात्र आत्मा को विज्ञानस्वरूप मान कर भी कर्ता न मानना, उसे

---

1. साक्षी चिन्मात्ररुपोऽहम्परमात्मा पर: शिव:।
कर्तृताकर्तृताऽस्पृष्ट: पूर्णकर्ता जयत्यसौ।। - अ.वि., 6/1
2. वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथाऽपरे।
विश्वकर्तारमिति तत् वस्तुतो द्वयमप्यसत्।। - तदेव, 6/2
3. अकर्तृत्वे जडत्वं स्यात् कर्तृत्वे ,द्वैतमापतेत्।
अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृताऽकर्तृते कथम्।। - अ. वि., 6/3
4. ननु यद्वस्तु नास्त्येव कर्तृता तन्निरूपिता।
कुत्र वाऽऽरोप्यतामेवमकर्ताऽऽत्मेति चेत्तदा।। - तदेव 6/5
5. यथा शशविषाणस्य कर्ता केनापि नेष्यते।
जगतोऽपि तथा कर्ता नास्तीति मनुतां भवान्।। - अ. वि., 6/6
6. यदि ब्रवीषि विज्ञाताऽस्म्यहम्प्रत ययगोचर:।
सर्वथा वर्त्तमानोऽहमकर्तैव न संशय:।। - तदेव 6/7

जड़ मानने के समान है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान जब अपने विकसित स्वरूप को स्वयं अपरोक्ष-सा जान लेता है। अर्थात् अपना स्वयं अनुभव करता है, तो वह अवश्य ही अनुभव करता हुआ उस अनुभव क्रिया का कर्ता होता है। अतएव स्वतन्त्र होता हैं। ऐसा न मानने से वह परतन्त्र होते हुए जड़ हो जायेगा।[1] दूसरे, आत्मा के कर्तृत्व ज्ञान के बिना अकर्तृत्व का ज्ञान सिद्ध ही नही होता। जैसे जिसको घट-ज्ञान ही नहीं, वह "यहां घट नहीं है" ऐसा नहीं कह सकता। अतः "आत्मा अकर्ता है" वेदान्तियों का ऐसा कहना असंगत है।[2] यदि कर्तृत्व ज्ञान के बिना ही अकर्तृत्व ज्ञान माना जाए तो एकाङ्गी ज्ञान होने से निर्णयात्मक नही हो सकता।[3] यदि वेदान्ती आत्मा के कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों के अधिष्ठान भूत चितस्वरूप के पूर्णकर्तृत्व को मानते है, तो उस दशा में आपेक्षिक ज्ञानों के होने पर भी कोई विरोध नहीं है।[4] तात्पर्य यह हैं कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों परस्पर अबलम्बी एवं परस्पर विरोधी कल्पित मात्र भाव हैं। अतः इनके मूल (ज्ञान) मे कोई भेद नहीं हो सकता। अतएव दोनों प्रकार का (पूर्णज्ञान) जिस में हो, वह ही चित्स्वरूप पूर्णकर्ता परमशिव होता है।[5] सिद्धमत में आत्मा के परिपूर्ण कर्तृत्व माने जाने का एक यह भी कारण हैं कि केवल कर्तृत्व अथवा अकर्तृत्व माने जाने से वह एकाङ्गी होगा , अतएव अपूर्ण[6] यदि ऐसा कहा जाए कि कर्तृत्व और अकर्तृत्व परस्पर विरोधी होने से समानाधिकरण में नहीं रह सकते तो, उसके परिहार में सिद्धमतानुसार ज्ञानवत् तथा ज्ञान में लेशमात्र भी भेद नहीं होता हैं। इसीलिए वहां द्वैत की शङ्का भी नहीं हो सकती। जैसे वट वृक्ष के बीज में सम्पूर्ण-शाखा, प्रशाखा, फल, फूल आदि रहते है, वैसे ही ये सम्पूर्ण परमात्मा में अवस्थित है।[7] यदि जन्यत्व अभाव के

---

1. एवं वदन् भवान् सत्यं जडात्मा नैव संशयः।
प्रत्यक्षचिन्मात्ररूपस्वात्माऽनुग्रहवञ्चितः।। – अ.वि., 6/8

2. अकर्तृत्वंपुनः किं ते कर्तृत्वाऽभाव एव चेत्।
अकर्तृत्वं न सिद्धयेत्ते कर्तृत्वज्ञानमन्तरा।। – तदेव, 6/9

3. कर्तृत्व ज्ञानरहितोऽकर्तृत्वज्ञानवान् भवान्। एकाङ्गविकलत्वेन गुर्वनुग्रहमर्हति।। –अ. वि., 6/10

4. कर्तृत्वज्ञानसहितोऽप्यकर्ता यदि चेद्भवान्। पूर्णकर्ता चित्स्वरूपः साम्प्रंत भांतिं सुन्दरः।। – तदेव 6/11

5. यथा कर्ताऽहमित्येतत् तथाऽकर्ताहमित्यपि। कर्तृताऽकर्तृत्वे हित्वा ज्ञानं ज्ञानतयाऽपृथक्।। – तदेव, 6/12

6. "अपूर्णत्वं प्रसज्येत स्वीकारेऽन्यतरस्य तु।" – अ. वि., 6/13

7. ज्ञानवान् ज्ञानतो भिन्नो नास्त्येवेति तु निश्चितम्।
लेशतोऽपि न शङ्काऽत्र द्वैतस्य समुदेति हि।। – अ.वि., 6/14

कारण आत्मा को अकर्ता माना जाता है, तो भी उसमें अपूर्णता का दोष आ जाता है।[1] तो इसमें भी कर्तृत्व ज्ञान के बिना अकर्ता कहने से एकाङ्गी दोष हो जाएगा।[2] सिद्धमत में आत्मा के पूर्णकर्त्ता और विलास-स्वरूप होने से जड़ता का दोष कभी नहीं आता है।[3] अत: जिस की कल्पना से कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों प्रकाशित होते है अर्थात् सत्ता, चित्ता तथा आनन्दता मिलती है, उस कल्पक की पूर्णकर्तृता निरावाधित सिद्ध हो जाती है।[4] इसलिए ये परस्पर विरूद्ध दोनों जिस स्वयं-सिद्ध महासत्ता रूप परमतत्त्व के होने से ही प्रकाशित होते हैं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप एवं पूर्णकर्त्ता सिद्ध होता है।[5] सम्पूर्ण वेद शास्त्रों का भी तात्पर्य आत्मा के पूर्णकर्त्ता होने में ही है। अपेक्षिक तथा एकाङ्गी विकल केवल कर्त्ता अथवा अकर्त्ता होने में नही।[6] निरपेक्ष अकर्तृत्व अथवा कर्तृत्व परिपूर्ण कर्तृत्व ही होता है। इस तत्त्व को भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता में समझाया है।[7] प्रत्युत्-आद्य-गुरू शंकराचार्य का "ब्रह्म सर्वशक्तिस्वरूप" कहना भी उनके द्वारा आत्मा को पूर्णकर्तृत्व को माने जाने का द्योतक है।[8] इसी प्रकार योगवाशिष्ठ रामायण में "ब्रह्मर्षि" वाशिष्ट द्वारा श्री राम से ब्रह्म के विषय में कहा गया है[9] जैसे सम्पूर्ण संख्याओं से अतीत अथवा सम्पूर्ण संख्याओं में रहने वाली एकरूप संख्या परमात्मा की द्योतक है, उसी प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व सापेक्ष भावों से अस्पृष्ट एवं उनमें व्याप्त होने से उनकी अधिष्ठानरूप पूर्णकर्तृता व्याप्त होती है।[10] शिव से

---

1. कर्तृत्वाऽभाववान् नाऽयमकर्ता किं तु सोच्यते।
   अकर्ता यस्य कर्ता नो विद्यते इति चेन्मतम्।। -तदेव, 6/15
2. तदेवोत्तरमत्राऽपि कर्तृत्वज्ञानमन्तरा।
   अकर्तृत्व ज्ञानमेव नोदेतीति पुनर्मम।। -अ. वि., 6/16
3. अस्मन्मते जडुत्वं न कदाऽप्यापतति ध्रुवम्।
   आत्मन: पूर्णकर्तृत्वात् स्वविलासस्वरूपिण:।। -अ. वि., 6/17
4. यस्य कल्पनया भात: कर्तृताऽकर्तृते उभे।
   निराबाधा कल्पकस्य न सा किं पूर्णकर्तृता।। - तदेव 6/18
5. अतएदद् द्वयं यस्य सत्तयैव प्रकाशते।
   सचिच्चदानन्दस्वरूपं वदाम: पूर्णकर्तृतत्।। - तदेव, 6/19
6. श्रुतीनामपि सर्वासां तात्पर्यं पूर्णकर्तरि। एकाङ्गविकले तत्र नाऽकर्तरि न कर्तरि।। - तदेव, 6/20
7. यदेव पूर्णं कर्तृत्वमकर्तृत्वं तदेव हि।
   एतत्स्वयं भगवता प्रोक्तं तत्त्वं किरीटिने।। - अ.वि., 6/21
8. अस्तितावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धभुक्तस्वभावम्। सर्वज्ञम् सर्वशक्तिसमन्वितम्।। -ब्र. सू. शा. भा., 1/1/1
9. "सर्वशक्ति:परंब्रह्म।" -यो.वा.रा., 3/100/5
10. यथा सङ्ख्यातिगा सङ्ख्या परात्मन्येकरूपिणी।
    कर्तृताऽकर्तृताऽस्पृष्टा तथेयं पूर्णकर्तृता।। -अ.वि., 6/22

लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त प्रपञ्च को अपने विलास से सतत् अभिव्यक्त करता हुआ भी वास्तव में अद्वितीयरूप होने से स्वात्मा द्वयापेक्षी कर्तृत्व लेश से रहित सदा स्वतन्त्रपरिपूर्ण कर्त्ता है,[1] तात्पर्य यह है कि शिव पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्व कल्पना तारतम्य से अभिव्यक्त करता हैं। वस्तुतः यह सम्पूर्ण तत्त्वरूप प्रपञ्च उसका अपना स्वरूप ही होते हैं, इनको अनेक प्रकार से प्रकाशित करना ही उसकी क्रिया होती है, अतः सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (भेद प्रकाशन) तथा अनुग्रह (अभेद प्रकाशन) - ये पाँचों कृत्य क्रिया शक्ति में अन्तर्हित रहते हैं। जो सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञान शक्ति एवं वह इच्छा शक्ति दिखाई देती हैं। इन तीनों का पूर्ण सामरस्य ही विलास स्वरूप है तथा विलास आत्मस्वरूप हैं। अतः इस मत में "प्रकाशित हो रहा है" तथा "आनन्दस्वरूप है", इसी कारण अनन्त इसके नामरूप है। परन्तु यह सम्पूर्ण कहना सुनना एक ही वस्तु का है। अतः वस्तुतः सारा ही आत्म-स्वरूप हैं।

6. मल : प्रायः शैवशास्त्रों मे कारण, सूक्ष्म और स्थूल भेद से क्रमशः आणव, मायीय ओर कार्म रूप में मलों का त्रिविध वर्गीकरण पाया जाता है। जो इस प्रकार है :

(1). आणव मल : आणव शब्द "अणु" से बना है। "अणु" का अर्थ है छोटा अथवा सीमित। अपने को छोटा अथवा सीमित (अणु) समझना - यही आणव मल है। दूसरे शब्दों में, सीमित या संकुचित व्यक्तितत्व का नाम आणव है। जैसे सागर लहर बनता है, तो लहर संकुचित व्यक्तितत्व है, उसी प्रकार जब शिव पशु बनता है तो पशु सीमित व्यक्तितत्व (अणु) हो जाता है, इस अणुत्व का भाव आणव कहलाता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आणव का सम्बन्ध समझ से है, अर्थात् पशु अपने को छोटा समझता है न कि वस्तुतः छोटा हो जाता है। इसीलिये आणव वस्तुतः अज्ञान या नासमझी हैं, यह कोई भौतिक परिवर्तन जैसा नहीं है।

आणव मल ही मूल मल हैं, जिसके कारण दो अन्य मल (मायीय मल और कार्म मल) भी पशु से युक्त हो जाते हैं। आणव मल सीमित व्यक्तितत्वाभिमान है जिसके कारण पशु में

1. कुर्वन् सदैव वसुधादिशिवान्ततत्त्वरूपं प्रपञ्चमखिलं स्वविलासमात्रात्।
कर्तृत्वलेशरहितः खलु योऽद्वितीयः स्वात्मा सदैव ननुः राजति पूर्णकर्ता।। -अ.वि., 6/24

सीमित कर्तृत्व (कार्म मल) तथा द्वैत ज्ञान (मायीय मल) आ जाता है। अपने को सीमित समझने के कारण ही व्यक्ति को उसके वास्तविक (शिव रूप की) पूर्ण शक्तियों का विस्मरण हो जाता है। फलतः वह सीमित कर्त्ता हो जाता है तथा जगत् को अपने से भिन्न समझने लगता है। इन सारी बातों के मल में व्यक्ति की नासमझी (अज्ञान) अथवा सीमित व्यक्तित्वाभिमान (अणुत्व) ही है, इसीलिए आणव को मूल मल कहा जाता है।

(2). मायीय मल : द्वैत-ज्ञान अर्थात् जगत् को अपने से भिन्न समझना मायीय मल है। यहां ध्यातव्य है कि जगत् को भिन्न देखना मल नहीं है, जगत् को भिन्न समझना मल है। इस द्वैत-ज्ञान के कारण ही पशु का कर्म उसका स्पन्द न होकर उसका ऐच्छिक कर्म हो जाता है। वह जगत् को अपने से भिन्न समझता है तथा इसके फलस्वरूप उसमें आसक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह आसक्ति ही उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे पशु कार्म मल से भी संसिक्त होता जाता है। सामान्यतया मायीय तत्त्वों से युक्त होने पर तदुत्पन्न अशुद्धता को मायीय मल कहा जाता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में द्वैत-ज्ञान को ही मायीय मल कहा गया हे। मायीय तत्त्वों से युक्त होने पर भी यदि आत्मा को पूर्णत्व का ज्ञान है अथवा अद्वैत-ज्ञान है तो वहां मायीय मल नहीं होगा।

(3). कार्म मल : आणव मल के प्रभाव से आत्मा कर्म करने की ओर अभिमुख होता है तथा शरीर आदि मायीय पदार्थों के साथ संयोग होने पर कर्म करने लगता है। इस अवस्था में उत्पन्न अशुद्धता को कार्म मल कहा जाता है। कार्म मल कर्म संस्कार से भिन्न है। कार्म मल कर्म करने की प्रवृत्ति है, जो आत्मा में आणव मल के प्रभाव से प्रादुर्भूत होती है।

सामान्यत्तया सभी भारतीय दर्शनों में (चार्वाक को छोड़ कर) कर्म को मल रूप अथवा बन्धनस्वरूप माना गया है। कर्म को बन्धनस्वरूप मानने का कारण एक यह है कि इससे प्राणी कर्म नियम के बन्धन में पड़ जाता है, जिसके अनुसार वह जो भी कर्म करेगा, उसका फल उसे अवश्य भोगना होगा। दूसरा कारण यह है कि कर्म से आत्मा के वास्तविक स्वरूप

पर आवरण सा पड़ जाता है। कर्म रूपी आवरण ही दिखाई देता है, आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनुभूत नही होता। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनुभूत करने के लिए इस आवरण को भेद कर के ही अनुभूत किया जा सकता है, उदाहरण के लिए सागर और उसकी लहर को लिया जा सकता है। सागर से वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए आधार में जाना आवश्यक हैं।

वस्तुतः देखा जाए तो - ये तीन ही है - ऐसी कोई बात नहीं है। साधारणतया समझाने के लिए ही तीन भाग्य किय जाते है, वास्तव में यह अथवा वह अपने आत्मानन्द का उल्लासमात्र ही है।[1] तात्पर्य यह है कि शैवशास्त्रों में मलो की त्रिविधता का अभिप्राय यह नहीं हैं कि वह तीन से अधिक भी नहीं अथवा तीन से न्यून भी नहीं। ये मल आत्मस्वरूप ही होने पर भी कल्पित अनात्मभाव के तारतभ्य से अनन्त प्रकार के हो जाते हैं। वह परमसत्ता सर्वथा परिपूर्ण, मुक्त और स्वतन्त्र होने पर भी अपने आप कल्पित की गई मलिनता से मलिन-सी जीव भाव को प्राप्त हुई संसारित्व को प्राप्त हो जाती है।[2] तात्पर्य यह हैं कि वस्तुतः देखा जाए तो आत्मस्वरूप के अतिरिक्त किसी वस्तु की शङ्का ही नहीं हो सकती, तो पुनः उसका होना या न होना सम्भव ही नहीं ? जिसका होना या न होना प्रतीत होता है एवं जिसकी चर्चा की जाती है, वह वस्तु ही होती हैं। इस कारण मल भी आत्मस्वरूप ही होता है। परन्तु जैसे धट वस्तुतः मिट्टी होने पर भी अपने व्यवहारिक आनन्द के लिए उसे मिट्टी न कह कर धट इत्यादि नामरूपों से ही बोध किया या कराया जाता है, अर्थात् व्यवहार में सद्वस्तु (कारणरूप) को छिपाकर असत्वस्तु (कार्यरूप) से ही काम लिया जाता है। इसका कारण एक यह भी है कि यदि व्यवहार में भी वस्तु सत्ता को प्रकट कर दिया जाए तो व्यवहार ही मिट जाएगा। सवर्णकुण्डलवत् व्यवहार सम्पूर्ण अनेकता पर निर्भर हैं तथा वह मूल कारण भी व्यवहार से पृथक् नहीं एवं आत्मस्वरूप से भी पृथक् नहीं। ऐसा होने पर भी अपने आप आत्मदेव एक नई कल्पना मलरूप से करता है, जैसे स्वर्ण की

1. मलानां त्रितयं कैश्चित् स्वग्रन्थे प्रतिपादितम्।
वास्तवं नैव तत् किन्तु स्वानन्दोल्लास एव सः।। -अ.वि., श्लो. 20

2. स्वात्मकल्पितमालिन्यमलिनो जीवतां भजन्।
मुक्तोऽपि बद्ध इव सन् संसारित्वं प्रपद्यते।। -तदेव, श्लो. 2

आत्मभूत शक्ति कुण्डल का रूप धारण कर लेने पर ग्राहक की दृष्टि में अथवा पहनने वाले की दृष्टि में वह कुण्डल दिखाई देती है और सोना उसको नहीं कहा जाता। तथापि स्वर्णत्व उस का नष्ट नहीं होता। इसलिए यह आत्मा अपनी कल्पना से अपने आप में सब कुछ होता हुआ भी न होने के समान या कुछ भी न होता हुआ होते हुए के समान है।

(7). जीव : आचार्य के अनुसार पारमार्थिक सत्ता आत्मा अथवा परमशिव है, जोकि नित्योदित है, स्वतन्त्र है, सर्वशक्ति सम्पन्न है। विश्वरूप एवं विश्वोत्तीण है।[1] यह परमशिव अथवा आत्मा स्वेच्छा से अपने विलास के द्वारा अपनी असीमित चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि शक्तियों में संकोच करके सीमित सामर्थ्य वाला जीव बन जाता है, तब पूर्णत्व में अपूर्णता का अनुभव करता है, अपने से अन्य सबको अभिन्न होते हुए भी भिन्न मानने लगता है। कर्म संस्कार से युक्त होकर शुभाशुभ कर्म करने से उनका तदनुरूप फल भोगने लगता है। इस प्रकार आणव, मायीय और कार्म फल से युक्त होकर पशु बन जाता है, क्योंकि इससे उसकी स्वतन्त्रता परतन्त्रता में अनुभूत होने लगती है। यह परतन्त्रता ही जीवता कहलाती है।[2] इस अवस्था में इसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ सीमित होकर पशुरूप कला, विद्या, राग, काल और नियति रूप में अनुभव होने लगती है। यह परतन्त्रता ही सब दुःखो का घर है, जोकि उसकी अपनी इच्छा से ही कल्पित होती है। परन्तु इस प्रकार जीवभाव को प्राप्त हुआ भी किञ्चित् आनन्द को प्राप्त करती रहती है। तात्पर्य यह है कि परमशिव अपनी विलासमयी स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने ही आपको जीवरूपता से प्रकट करता रहता है, जिस प्रकार दर्पण में नील-सुख आदि पदार्थों का आभास होने पर भी उसमें कोई दोष नहीं आता उसी प्रकार परमशिव के जीव रूप में प्रकट होने पर भी उनके स्वरूप में काई विकार नहीं आता।

अत: जीव एक काल्पनिक चेतना है और परमात्मा स्वाभाविक। बोध चेतना को होता है, जड़ को नहीं। सुख किसका है और किस में है ये दोनों बोध जीव को होते हैं। अत:

---

1. स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन्।
   नित्योदित: कोऽपि देवो जयत्यात्मा पर: शिव:।। –अ.वि., 2/1

2. स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता।
   शिव: पशुपति: प्रोक्तो जीव: पशुरितीर्यते।। –तदेव, 3/5

व्यावहारिक रूप से जीव ही सुखी हो सकता है। वास्तव में अनन्त देवों की कल्पना करके अनन्त प्रकार से सुखों की समृद्धि करता हुआ वह महान् अहम्महादेव अपने आत्ममहारस से सुखी है और वस्तुत: सुखी है, इसी का सुख है और इसी में सुख है। आत्माऽतिरिक्त जब वस्तु ही नहीं, तो आत्मा को छोड़ कर सुखी भी अन्य कोई नहीं हो सकता। जीवभाव में यही सुखी और दु:खी अपने आपको मानता है। देशकाल और वस्तु सभी आत्मानन्द के लिए कल्पित किया गया है। इसीलिए सभी जीवों में सुखत्व निरन्तर अनुभूत नहीं होता है। जीव अवस्था में "मै सुखी हूँ" यह जाना जाता है, इसलिए यह ज्ञान से छोटा है। सम्पूर्ण ज्ञान जिस ज्ञान में आते है, वह सबसे बड़ा ज्ञान हैं उसे उसके अतिरिक्त कोई नहीं जानता। वही महान् आत्मा महादेव हैं।

जीव दो प्रकार के कर्म करता है। पहले प्रकार का कर्म जीव जानबूझ कर करता है। जानबूझ कर किये जाने वाले कर्म में मनुष्य सावधानी बरत सकता है, किन्तु दूसरे प्रकार के कर्म मनुष्य से अनजाने में ही हो जाते हैं। जैसे चलते समय अनजाने में ही जीवों की हिंसा हो जाना आदि। इन्होंने यह भी कहा है कि आत्मसाक्षात्कार के लिये समस्त जीवों के प्रति वैर भाव का परित्याग एवं किसी वस्तु के संयोग और वियोग से होने वाले शोक का त्याग और आत्मबल पर विश्वास होना चाहिए।

आचार्य ने कहा है कि जो भगवती आत्मशक्ति स्वात्मचमत्काररूपी आसव रस का पान करती हुई उसके आनन्द में विभोर रहती है, वही आत्मरूप अर्थात् अपने स्वरूप से अभिन्न जीवों पर शान्त, घोर और घोरतम रूप वाले और नाम वाले अपने भिन्न-भिन्न स्ववरूपों के द्वारा निग्रह तथा अनुग्रह करती है।[1] पुण्य पाप आदि कल्पित है। वे भगवती आत्मशक्ति के स्वरूप का उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार ओले इत्यादि आकाश का स्पर्श नहीं करते। आकाश सबमें व्याप्त होते हुए भी निर्लेप है। इसी प्रकार विश्व-रूपों में तथा जीवों में व्याप्त होते हुए भी भगवती का स्वरूप जीवकृत पुण्य-पाप आदि से अछूता रहता है।[2] जीव और पदार्थों का यह जगत्-ऐन्द्रजालिक के गन्धर्व-नगर की भान्ति भगवती का चमत्कार है।

---

1. शान्तैर्धोरैर्धोतमै: स्वं रूपेनमिभिश्च या।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिवन्ती स्वरसासवम्।। -विं. शा., श्लोक - 4

2. कल्पित पुण्यपापादि नैव स्पृशति जात्वपि।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादिवियद्यथा।। -वि. शा., श्लोक - 6

जीव के इस कल्पित जीवत्व की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। इनमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ प्रतीत होती हुई भी वास्तविक नहीं। अतः उस अद्वैत और सनातन आत्मा में उसकी शक्ति (कला) से कल्पित होती है। अर्थात् वे काल्पनिक हैं। उनकी पारमार्थिक-सत्ता नहीं है।[1] तुरीय अवस्था का साक्षात्कार योगियों को ही होता है। जिस मूल वस्तु में इस चार अवस्थाओं की प्रतीति हुआ करती है, उसे तुरीयातीत कहते हैं। पहली तीन अवस्थाओं के रूप सर्व-विदित है और समस्त जीवों को इनका अनुभव होता है। तुरीया और तुरीयातीत का अनुभव केवल योगियों को ही होता है। जाग्रत अवस्था में जीव अन्तःकरण और इन्द्रियों के व्यापार में समर्थ होता है। इन्द्रियों के द्वारा उसे बाह्य विषयों का बोध होता है। यह जीव की सबसे साधारण अवस्था है। इसी अवस्था से लोक-व्यवहार होता है। इस अवस्था में जीव की "विश्व" नामक संज्ञा होती है। "माण्डूक्य" उपनिषद् में इसे "वैश्वानर" कहा गया है। दूसरी अवस्था स्वप्न कहलाती है। स्वप्न की अवस्था में इन्द्रियों के बाह्य व्यापार शान्त हो जाते हैं। अतः बाह्य विषयों का बोध नहीं होता। किन्तु अन्तः करण सजग रहता है और अन्तःकरण के द्वारा आन्तरिक तथा मानसिक विषयों का बोध होता है। इस अवस्था में जीव की "तैजस" नामक संज्ञा होती है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। स्वप्नों से रहित गहरी निद्रा को सुषुप्ति कहते हैं। इसमें अन्तःकरण भी शान्त हो जाता है और आन्तरिक विषयों का बोध नहीं होता। किन्तु सुषुप्ति के पश्चात् उठ कर जब हम यह कहते है कि "मै सुखपूर्वक सोया और मुझे कुछ भी बोध नहीं रहा" तो यह अनुभव इस बात का प्रमाण है कि सुषुप्ति में बोध का पूर्ण अभाव नहीं होता। अपनी शान्त अवस्था का बोध तो रहता ही है, जिसका स्मरण जागने पर होता है। सुषुप्ति विषय कारण अथवा अतिसूक्ष्म है जो बाह्य और आन्तरिक विषयों के विलीन होने पर शेष रह जाता है। सुषुप्ति में जीव की "प्राज्ञ" नामक संज्ञा होती है। सुषुप्ति से भी परे एक चौथी अवस्था होती हैं जिसे किसी नाम के अभाव में "तुरीया" कहते है तुरीया का अर्थ ही चौथी अवस्था है। तुरीया अवस्था सुषुप्ति के कारण अथवा अति सूक्ष्म का भी जो साक्षी आत्मा है उसका आभास होता है।

---

1. जाग्रात्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि।
स्वकलाकल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो।। -तिदेव, शलोक - 7

यह वही साक्षी आत्मा है जो सुषुप्ति के आनन्द का अनुभव करती है। "तुरीया" से भी परे आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, जिसका निर्वचन कठिन है और वस्तुतः यह कोई अवस्था या दशा नहीं है यह सब अवस्थाओं का अनुभव योगियों को ही होता है। साधारण जनों को वह दुर्लभ है। अथवा यों कहना चाहिए कि इन अवस्थाओं की प्राप्ति ही योग का लक्षण है। इन्हीं अवस्थाओं में प्रकाश-विमर्श-स्वरूप आत्मा का बोध होता है। पहली तीन अवस्थाएँ बन्धन-रूप हैं। तुरीया और तुर्यातीत मुक्ति के अनुरूप है।

(8). प्रमाण : काश्मीर शैव दर्शन भी अन्य भारतीय दर्शनों की भान्ति ज्ञान के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों को मानता है इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख विशेषता इन सभी प्रमाणों के मूल में चेतना को मानता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार चेतना ही इस सभी प्रमाणों का आधार है तथा चेतना द्वारा ही ये सभी प्रमाण प्रकाशित है। अतः अन्ततः चेतना या चिति ही यथार्थ प्रमाण हैं। अन्य सभी प्रमाण चिति के साधन रूप हैं।

चिति को ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण के रूप में प्रतिपादित करने के क्रम में काश्मीर शैव दार्शनिक सर्वप्रथम उस तथ्य पर विचार करते है जिससे स्वयं प्रमाण प्रमाणित अथवा यथार्थ माना जाता है। उनके अनुसार चेतना ही सभी प्रमाणों को प्रमाणित करती है, अथवा चेतना ही सभी प्रमाणों का प्राण है, उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण को लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि हम किस प्रकार जानते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का यथार्थ साधन है? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि हमारी बुद्धि या चेतना प्रत्यक्ष की यथार्थता को जान लेती है इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह कि चेतना ही प्रत्यक्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष करती है। केवल ज्ञानेन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष हो जाना ही प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित नही करता। हमारी चेतना ही ज्ञानेन्द्रिय तथा विषय के संयोग द्वारा ज्ञान प्राप्त करती हैं तथा उनकी यथार्थता भी संपादित करती है। आगम प्रमाण के विषय में कहा गया है कि आगम अन्तः विचार अथवा ईश्वर के ज्ञान की भाषीय अभिव्यक्ति है जो चैतन्य स्वरूप है। इसका तात्पर्य यह है कि आगम प्रमाण के रूप में भी चेतना या चिति ही बाह्य अभिव्यक्त है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार आत्मा अथवा चेतना ही ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रत्यक्ष तथा व्याप्ति आदि साधनों के द्वारा अनुमान करती है, किन्तु सांख्य दर्शन में यह कार्य बुद्धि द्वारा संपादित होना माना गया है न कि सीधे पुरूष अथवा आत्मा या चेतना द्वारा। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार बुद्धि एक इन्द्रिय (अन्त:करण) है इसलिये ज्ञान का मात्र एक साधन या उपकरण है। उपकरण स्वयं देख या जान नहीं सकता। उदाहरण के लिए जब हम मेज को देखते या जानते हैं तो हमारी आँख या बुद्धि उसे देखती या जानती नहीं है वरन् हम अपने आँख या बुद्धि द्वारा उसे देखते या जानते है, इस प्रकार काश्मीर शैव दार्शनिक ज्ञानेन्द्रियों को साधन रूप ही मानते है, जिनका प्रयोग चिति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि में करते है तथा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि भी स्वतन्त्र प्रमाण न होकर चिति के साधन है अत: चिति ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण है।

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञानेन्द्रियाँ मात्र साधन है तथा चिति ही वास्तविक ज्ञाता है, तो क्या चिति स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती अथवा वह ज्ञान के साधनों पर सदैव निर्भर रहती है? इसके उत्तर में काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते है कि चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकती है। पशु अवस्था में चेतना जब मल से संसिक्त तथा शरीर आदि के बन्धन से सीमित रहती है तो यह ज्ञान के साधनों पर निर्भर होती है। उदाहरण के लिए कमरे में बन्द व्यक्ति को बाहर का दृश्य देखने के लिए खिड़की की अथवा अन्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु कमरे के बाहर आ जाने पर व्यक्ति स्वयं बिना उपकरणों के बाहर का दृश्य देख सकता है। उसी प्रकार जब हम आत्मा या चेतना शरीर आदि के बन्धन से मुक्त हो जायें, तो उसे ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होगी। योगी जो मल की सीमा से ऊपर उठ जाते है, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कर सकते है, जीवन मुक्ति की अवस्था मे मल से पूर्ण मुक्ति मिल जाने पर ज्ञानेन्द्रियों को साधन रूप में प्रयोग करना या न करना जीवनमुक्त के स्वातन्त्रय पर निर्भर होता है। जीवनमुक्त बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही सब कुछ जान सकता है।

चिति को ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण मानने में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि यदि चेतना ही विषय को विविध प्रमाणों की सहायता से जानती या प्रमाणित करती हैं, तो चेतना स्वयं किस प्रकार ज्ञात अथवा प्रमाणित होती है? काश्मीर शैव दार्शनिक इसके उत्तर में कहते हैं कि चेतना स्वयं प्रकाशित होने से स्वयं प्रमाणित है।[1] ज्ञान अथवा चेतना स्वयं-प्रकाश है, क्योंकि जो सबको प्रकाशित करता है, उसे कोई अन्य प्रकाशित नहीं कर सकता। अथवा जो सबके प्रकाशन का आधार है, उसे अन्य साधनों (देश, काल, आकारादि) द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता।[2] अतः काश्मीर शैव दार्शनिक चेतना अथवा आत्मा को स्वयं प्रमाणित मानते हैं, उनके अनुसार ज्ञान की हर प्रक्रिया ज्ञाता का पूर्व अस्तित्त्व प्रतिपादित करती है। बिना ज्ञाता के ज्ञान नहीं हो सकता। यदि आत्मा अथवा चेतना का निषेध किया जाये, तो निषेधकर्त्ता के रूप में आत्मा अथवा चेतना का अस्तित्त्व स्वतः मान्य होगा।

यह स्वयं सिद्ध अथवा स्वयं प्रकाश चेतना ही आगम प्रमाण के रूप में बाह्य अभिव्यक्त हैं, जिसे काश्मीर शैव दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। दूसरे शब्दों में, काश्मीर शैव दर्शन आगम प्रमाण पर ही आधारित है। अतः आगम प्रमाण की प्रामाणिकता को काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से समझना आवश्यक है। आचार्य के अनुसार शब्द में, अनुमान में और प्रत्यक्ष में जो प्रमाणता मानी जाती है, वह सब कुछ "शाक" की महिमा हैं, इस कारण "शाक" ही परमेश्वर है।[3] प्रमेय, प्रमाण ओर प्रमाता में जो ओतप्रोत भाव से प्रकाशमान् होता रहता हैं, वह महाप्रकाश पराशक्ति रूप "शाक" ही है।[4]

(9). बन्ध - मोक्ष : काश्मीर शैव शास्त्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि संसार बन्धन रूप नहीं है, संसार को अपने से भिन्न देखना-पराया समझना-बन्धन है। दूसरे शब्दों में, द्वैत

---

1. यतश्च इयमेव प्रमातृप्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने हेतुः ततोऽस्याः स्वतन्त्रा परिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः प्रमाणवराकमुपयुक्तमुपपन्नं वा।। -प्र. हृ., सू. 1 टीका

2. "…..प्रकाशरूपा चितिरेव सर्वस्य हेतु नः त्वसौ कश्चित् अतएव देशकालाकारा। एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्; इति व्यापक नित्योदितपरिपूर्णरूपा इयम्।। -प्र. हृ., सू. 1 टीका

3. शब्देऽनुमाने प्रत्यक्षे प्रामाण्यं यदपीष्यते। तत् सर्वं शाकमाहात्मां तस्माच्छाको महेश्वरः।। -सि.म.र., पृ. 50

4. मेये माने मातरि च य ओतप्रोतभावतः। काशते स महान् काशः शाक एव महेश्वरी।। -तदेव, 51

अज्ञान ही बन्धन है। अज्ञान ही बन्धन है[1] और द्वैत ज्ञान ही अज्ञान है।[2] द्वैत ज्ञान को "अज्ञान" इसलिए कहते हैं कि उसमें सत्य की यथार्थ जानकारी नहीं होती है। वास्तव में एक परमशिव ही परमार्थ सत्य है और उसकी शक्तियों का विकास रूप ही विश्व है अत: उससे अपृथक् है किन्तु इस सत्य को न जानकर जीव का यह जानना कि विश्व उससे पृथक् रूप है, यही द्वैत ज्ञान है। इसीलिए द्वैत देखना अज्ञान हुआ और अद्वैत देखना ज्ञान हुआ। इसी कारण द्वैत अथवा अज्ञान को बन्धन का हेतु एवं अद्वैत अथवा ज्ञान को मोक्ष का हेतु बताया गया है। तात्पर्य यह है कि हम जितना ही विश्व के साथ अद्वैत भाव लाते हैं उतना ही हम सत्य के समीप जाते है और उतने ही अंश में हम स्वरूप की प्राप्ति करते हैं।

सामान्यत: भारतीय दर्शनों में आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता अथवा अज्ञान को बन्धन तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न दु:ख को बन्धन का लक्षण माना गया है। वास्तविकता से अनभिज्ञ जीव कर्म में लिप्त होता है। उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ क्षीणप्राय रहती हैं। सीमित शक्तियों से युक्त आत्मा ससीम हो जाती है। वह ससीम अवस्था को ही अपनी सहज अथवा स्वाभाविक अवस्था समझने लगती है। इस अवस्था से पुन: वास्तविक अवस्था की ओर जाना अथवा आत्मोपलब्धि ही मोक्ष कहा गया है। जिन कारणों से आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता होती है, उन कारणों के उन्मूलन से ही आत्मोपलब्धि भी हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शनो में सामान्य रूप से बन्धन का कारण अज्ञान माना गया है तथा मोक्ष का कारण ज्ञान अथवा अज्ञान का विनाश माना गया है। इस अज्ञान की व्याख्या में भारतीय दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद को स्थूल रूप से तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। कुछ दर्शन जैसे शैवसिद्धान्त, जैन आदि अज्ञान से आत्मा की संसक्तितता को अनादि और बन्धन को सत्य मानते है तथा कुछ दर्शनों में अज्ञान से उत्पन्न बन्धन को मिथ्या, आभास मात्र अथवा असत्य माना गया है। जो आत्मा पर अध्यारोपित मात्र है, जैसे अद्वैत वेदान्त में, तीसरे प्रकार में काश्मीर शैव दर्शन को रखा

---

1. अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्। -तं. लो. 1/22
2. द्वैत प्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद्बन्ध उच्चते।। -तदेव 1/30

जा सकता है, जिसमें बन्धन का कारण अज्ञान माना गया है, किन्तु यह आत्मा (शिव) द्वारा लीला के लिए स्वेच्छा से गृहीत है।

शिव की दृष्टि से बन्धन स्वेच्छा से गृहीत है, किन्तु जब शिव बन्धन ग्रहण कर पशु बन जाता है, तो पशु की दृष्टि से बन्धन वास्तविक हो जाता है, शिव के लिये बन्धन लीला है एवं पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला का अंग है, किन्तु जीव के लिये यह लीला नहीं है। इससे मुक्ति पाने के लिये प्रयास करना भी काश्मीर शैव दार्शनिक आवश्यक मानते हैं, शिव स्वयं को ही सृष्टि-प्रक्रिया में विभिन्न जीवों के रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं को अभिव्यक्त करके भी शिव इससे परे रहता है। शिव एक ही समय में विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव एक ही समय में शिव और जीव दोनों हैं। जीवावस्था में शिव जब बन्धन के मल आदि कारकों को ग्रहण कर कर्म में संलग्न हो जाता है, तो उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं।

पूर्णावस्था अथवा पूर्णज्ञान की स्थिति में बन्धन नहीं रहता है। बन्धन केवल अपूर्णावस्था अथवा अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में रहता है। अतः पूर्ण की दृष्टि से अथवा शिव की दृष्टि से बन्धन लीलारूप हैं, किन्तु अपूर्ण की दृष्टि से अथवा जीव की दृष्टि से बन्धन सत्य हैं तथा इस सत्य बन्धन से मुक्ति पाने के लिये प्रयास करना आवश्यक हैं। यह प्रयास भी शिव की दृष्टि से लीलारूप कहा जा सकता है, क्योंकि तत्त्वतः जीव रूप धारण करके भी शिव के पूर्णत्व में कोई कमी नहीं आती। किन्तु जीव की दृष्टि से इसे लीला रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बन्धन उसके अपूर्ण ज्ञान के कारण उसके लिये लीलारूप न होकर यथार्थ होता हैं। जीव कर्म करता है तथा कर्म के फलस्वरूप उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता हुआ बन्धन में और जकड़ता जाता है। इस बन्धन से मुक्ति उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती हैं। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति अपूर्ण ज्ञान अथवा सीमित दशा प्राप्त होने के कारणों को नष्ट करके ही हो सकती है, जिसके लिये जीव को प्रयास करना होता है।

बन्धन की प्रक्रिया को समझाते हुए काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से स्वयं को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तथा पशु रूप में अपनी पूर्णावस्था को भूल कर सीमित हो जाता है, किन्तु पशु रूप में स्पष्ट सीमित अवस्था में होने पर भी शिव रूप मे वह शुद्ध पूर्ण बना रहता है। इन्होंने बन्धन के कारणस्वरूप मल के तीन प्रकार (आणव, कार्म और मायीय) बताये हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि बौद्ध ज्ञान होने मात्र से मुक्ति हो जाती है, किन्तु उनके लिए पौरूष ज्ञान समझना आवश्यक है। पौरूष-ज्ञान की अवधारणा ही यह समझाती है कि क्यों नहीं बुद्धिगत अज्ञान मिटने मात्र से मोक्ष हो जाता। पौरूप अज्ञान (एवं पौरूष ज्ञान) की अवधारणा तथा पौरूष एवं बौद्ध के भेद शैव शास्त्र की अपनी विशेषता है।

अपूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञता बन्धन है तथा पूर्ण ज्ञान अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना ही मोक्ष है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में सच्चिदानन्द रूप, असीम, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है, किन्तु बन्धन के कारण अथवा अपूर्ण ज्ञान के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। फलतः वह अपने को ससीम समझने लगता हैं। पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना अथवा अपने वास्तविक पूर्ण शक्तियों को जानना ही काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष कहा गया है।

शिव स्वेच्छा से लीलावश ससीम स्वरूप को धारण करता है तथा पुनः स्वेच्छा से ही पूर्ण रूप को भी ग्रहण करता है, क्योंकि शिव को यह ज्ञान रहता है कि बन्धन और मोक्ष अथवा सृष्टि की प्रक्रिया उसकी लीला मात्र है। अतः प्रश्न उठता है कि बन्धन और मोक्ष में किस प्रकार विभेद किया जा सकता है? यदि बन्धन और मोक्ष में विभेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही शिव की लीला के भाग है, तो फिर मोक्ष के लिये किये गये उपाय अथवा बद्वात्मा द्वारा किये गये प्रयास का क्या महत्त्व है? काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिये उपायों का भी निर्देशन है। इन उपायों का फिर क्या महत्त्व है? क्या ये उपाय अथवा आध्यात्मिक साधनायें लीलामात्र है? इसे स्पष्ट करते हुए काश्मीर शैव दर्शन में कहा गया है

कि वास्तव में कोई बन्धन या मोक्ष नहीं है, यह लीला मात्र ही है, किन्तु बद्धात्मा की दृष्टि से बन्धन और मोक्ष वास्तविक है। बन्धन की स्थिति मे उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करने के लिये उपायों अथवा साधनों की आवश्यकता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर आत्मा के लिये भी यह लीलामात्र ही रह जाता है, किन्तु जब तक पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक बन्धन और मोक्ष सत्य है अथवा इनमें विभेद है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति है। मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप स्वयं शिव हो जाता है। इस स्थिति में भेद ज्ञान अथवा द्वैतज्ञान अभेद ज्ञान अथवा अद्वैत-ज्ञान में परिणत हो जाता है। अद्वैत-वेदान्त अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा से इतर समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध हो जाता है। आत्मा से भिन्न जगत् आदि को मिथ्या मान लिया जाता है। काश्मीर शैव दार्शनिक मुक्ति की अवस्था में आत्मा से भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध नहीं करते, प्रत्युत उन्हें आत्मरूप ही मानते है। जगत् आदि वस्तुओं को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है तथा उन्हें अपने से अभिन्न समझना ही मोक्ष है।

मोक्ष चेतना की शुद्धावस्था है। यह पूर्ण अहम् अथवा पूर्णाहन्ता की स्थिति है। इस स्थितिमें आत्मा सीमित ज्ञातृत्व, सीमित कर्तृत्व, सीमित चेतना से ऊपर उठ कर पूर्ण ज्ञाता, पूर्ण कर्त्ता तथा प्रकाश विमर्श रूप हो जाता है। मोक्ष शिवास्था है, इसलिये इस स्थिति का विवेचन शब्दों में अथवा वाणी द्वारा नही हो सकता। इस अवस्था की अनुभूति की जा सकती है, जो स्वयं शिवास्था प्राप्त कर सकती है। सामान्य आनुभविक ज्ञान द्वारा इस अवस्था का निर्वचन नहीं हो सकता। सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का विकास है, निष्क्रिय और साक्षी मात्र है। मोक्ष पुरूष की केवलावस्था है, जो वह चौबीस तत्त्वों के ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है। पुरूष चौबीस तत्त्वों का ज्ञान कर यह जान लेता है कि उसका स्वरूप इन तत्त्वों से अलग है। काश्मीर शैव दार्शनिक सांख्य के मोक्ष सिद्धान्त पर विचार करते हुए कहते है कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित कैवल्य आंशिक मुक्ति है, तथा असंगत एवं असम्भव है।

परमात्मा बहिर्मुखी लीला के द्वारा सृष्टि आदि पारमेश्वरी कृत्यों को करता है और वेसा करते हुए अपने वास्तविक स्वभाव को अपनी लीला से ही भूला सा भी देता है। इस प्रकार संसारी, बद्ध जीवों के रूप में प्रकट होकर शुभाशुभ कर्मफल भोग के नियम से बन्ध कर आवागमन के चक्र में भ्रमण करता है, जितना बन्धन और मोक्ष की लीलाओं का प्रपञ्च है तथा जितना भी समझना-समझाना, पढ़ना-पढ़ाना, योग-साधना का अभ्यास करना, पूजा-पाठ करना और परतत्त्व को वास्तविक रूप में जानना आदि है तथा जितने भी सृष्टि -संहार आदि पारमेश्वरी कृत्य है, यह सब कुछ शक्ति के ही क्षेत्र मे आता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने "परमार्थसार" में कहा है कि वास्तविक मोक्ष का कोई वैकुण्ठ या गोलोक अथवा शिवलोक आदि धाम नहीं होता, न ही मोक्ष प्राप्ति के लिये संक्रमण करना होता है। अज्ञान की गांठ खुल जाने पर अपनी पारमेश्वरी शक्ति का अभिव्यक्त हो जाना ही मुक्ति है। [1]

आचार्य के अनुसार निग्रह में बन्ध की और अनुग्रह में मोक्ष की कल्पना की गई है। बन्ध अथवा भोग और मोक्ष अथवा त्याग वस्तुसत् नही। सुख और दुःख काल्पनिक है, अतएव जिसने जैसा कल्पित कर लिया उसका वह सुख-दुःख वैसा बन जाता है। परमार्थ रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि अपने आप आत्मस्वरूप को छोड़कर और दूसरा कोई पदार्थ ही वस्तुतः नहीं है।[2] इनका कहना है कि जन्म-जन्मान्तरों के आवागमन से व्याकुल मानव को भोग और दोनों की ही प्राप्ति होनी चाहिए। मानव विविध योनियों में उन अनेक प्रकार की माताओं के गर्भरूपी घरो में घूम-घूम कर अर्थात् चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर बहुत ही थक जाता है। परम विश्रान्ति के मूल कारण भूत भगवती का साध्य लेकर के अत्यन्त कातर वाणी से प्रार्थना करता है कि अब मुझे दुबारा जन्म लेने का अनुभव प्राप्त न हो।[3] अकार से ले कर क्षकार पर्यन्त समस्त जड़ चेतन विश्व प्रपञ्च भगवती के हृदयकोण मात्र में व्याप्त है।[4] उनकी भक्ति से मृत्यु-पाश छूट जाता है और परमानन्दमय अमृत-स्वरूप की

1. मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापिगमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।। -प. सा., श्लो. - 60

2. सुखं द:खं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम्।
परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि।। -व. सि. प्र., पृ. 129

3. भ्रामं भ्रामं विविधजननीगर्भगेहान्तरेषु श्रान्तश्श्रान्तस्तवपदयुगं प्राप्य विश्रान्ति हतोः।
शान्तिस्स्वान्तश्चरणपतितः प्रार्थये त्वां नितान्तं मातर्माऽतः। परमनुभवं जन्मनोदेहि महयम्।। -म. क्रा. स्तो., श्लो. 1

4. आदिक्षान्तं सकल्मपि ते तत्त्वजालं विशालं।
यस्या नित्यं हृदयकुहरीकोणमात्रे समस्ति।। -तदेव, श्लो. 7

प्राप्ति हो जाती है। स्व-पर का समस्त भेद दूर हो जाता है और पूर्ण अहन्ता-विमर्श की अनुभूति होती है। प्रज्ञावान् व्यक्ति हालाहल विषय को पीकर भी सदा हँसते रहते हैं। अर्थात् उन्हें मृत्यु-भय व्याप्त नहीं होता एवं वे प्रज्ञावान् कल्पान्तजीवी होते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि श्रीविद्या ही मूलविद्या बाला त्रिपुरा है और उनके मूलमन्त्र का आदि बीज वाग्भव बीज है, इसके जप का फल यह है कि चिच्छक्ति का स्फुरण होने पर मानव जीवनमुक्त हो जाता है। उसे विष भी अमृत तुल्य हो जाने से, उसका कुछ बिगाड़ता नहीं। मानव को वाक् काम और तदनन्तर आत्म-शक्ति का समन्वित साधन करने से चतुर्थ वर्ग मोक्ष की सिद्धि तो अनायास ही हो जाती है, वस्तुतः मोक्ष पूर्णाहन्ताविमर्श ही है। जब तक जीव अविद्या से परतन्त्र रह कर पशु-भाव का अनुभव करता है, तब तक उसे स्वात्म-बोध नहीं होता। पूर्णस्वातन्त्र्य का बोध होना ही मुक्तावस्था है।

आचार्य के अनुसार परमेश्वर की प्राप्ति ही "मोक्ष" है। यह प्राप्ति किसी बाह्य विषय की प्राप्ति नहीं। परमात्मा किसी से बाह्य नहीं है। सब परमेश्वर की ही शक्ति का विलास है। अतः वह सबमें व्याप्त है। परमेश्वर हमारी आत्मा अथवा हमारा आन्तरतम स्वरूप ही है। परमात्मा की प्राप्ति अपने आत्मभूत महेश्वर-भाव की प्रत्यभिज्ञा है, यह प्रत्यभिज्ञान ही "मोक्ष" है। जिसे अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो गयी है, ऐसा योगी साकार और साक्षात् परमेश्वर है। सिद्धागुर्मो के अनुसार यह मोक्ष स्वभाव से ही सबको प्राप्त है, क्योंकि सभी वस्तुतः शुद्ध, संविद्रूप तथा सदामुक्त स्वभाव है। अज्ञान-रूपी मल से इनका स्वरूप आच्छादित हो जाता है, यह अज्ञान काल्पनिक है, किन्तु स्वरूपगत सत्य के प्रकाश से ही दूर हो सकता है। इस मलावरण के दूर होने पर अन्तर्गत परमेश्वर का रूप प्रकाशित होता है। पूर्ण-नैर्मल्य का भाव ही मुक्ति है। इनका कहना है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में आत्मशक्ति के स्फुरण तथा बन्ध, मोक्ष आदि के रूप में उसके लीला-वैचित्र्य का निर्देश किया गया है। वह आत्मशक्ति ही इच्छा, ज्ञान और क्रिया के स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा निग्रह और अनुग्रह करती है। निग्रह बन्धन है, अनुग्रह मोक्ष है। दोनों ही भगवती की कृपा के फल हैं। वह

1. पीत हालाहलमयि विषं प्राणमाकल्पमम्ब प्रज्ञावन्तो दधति करुणावीक्षणैकप्रवीणे। -म. क्रा. स्तो., श्लो. 22

स्वयंसिद्ध ऐश्वर्यवती (भगवती) अहं ज्योति स्वरूप (अहम्मह:) तथा वाङ्मय स्वरूपिणी निग्रह-अनुग्रहमयी हो कर इच्छा, ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति करती है। आरोहक्रम में जो आत्म-शक्ति प्रकाश रूप अहं-भाव में अन्तर्मुखी होती है। अवरोह क्रम में विमर्श-रूप वही विश्व रूपों में साकार होती है। आरोह-शक्ति की आत्ममुखीगति है। "अवरोह" उसकी विश्वमुखी गति है। आरोह मोक्ष है, अवरोह बन्धन है। "आरोह" अनुग्रह है "अवरोह" निग्रह है। दोनों आत्म-शक्ति के अभिन्न रूप हैं, भगवती का निग्रह और अनुग्रह सृष्टि और संहार पूर्वक होता है। साध्य के रूप में अनुग्रह अथवा मोक्ष का प्रश्न बन्धन की अपेक्षा से ही उठता है। अत: निग्रह और अनुग्रह अथवा बन्धन और मोक्ष दोनों का सम्बन्ध सृजन से है। जिसकी सृष्टि होती है, उसका पालन भी होता है। पालन के द्वारा ही उसकी स्थिति सम्भव होती है, किन्तु अन्ततः उसका विलय भी होता है, निग्रह सृष्टि है "धोररूप" का अनुग्रह पालन है और शान्त-रूप का अनुग्रह विलय है।

प्राय: सभी दर्शनों में बन्ध ओर मोक्ष के विषय में विचार किया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त त्रिविध दु:खों के भंवर में जीव गोते खाता रहता है। सभी उससे छुटकारा पाना चाहते है। अत: दु:खमय संसृतिचक्र ही बन्धन और उससे छुटकारा ही मोक्ष माना जाता है, जहां पर चार्वाकादि स्थूल दर्शनों में शरीर से छुटकारा पाना ही मोक्ष माना गया,[1] वही वेदान्त जैसे सूक्ष्म दर्शन में स्वात्मा का ब्रह्मरूप में जानना (अनुभव करना) मोक्ष माना गया है।

आचार्य के अनुसार एक ही पारमार्थिकसत्ता आत्मा (परमसत्ता) को माना गया है, जो परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से समन्वित है अपने इस स्वातन्त्र्य (विलास) के ऐश्वर्य से ही स्वेच्छापूर्वक वह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी लीला करती रहती है। अन्तर्मुखी लीला में स्वातन्त्र्य का विकास होता है और बहिर्मुखी लीला में पारतन्त्र्य का विकास। यह स्वातन्त्रता ही सुख का मूल होती है और परतन्त्रता ही दु:ख का आधार[2] अत: यह स्वतन्त्रता ही शिवता है और

---

1 "मरणमेव अपवर्ग।" -चा. सू., श्लो. 13

2 दु:खमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता। अत: सर्वात्मना सर्वैस्तस्या: प्राप्त्यै प्रयत्यताम्।। -आ.वि., श्लो. 2

परतन्त्रता ही जीवता। शिव को ही पशुपति कहते है और जीव को ही पशु। [1] क्योंकि वह कलादि पाँच काँचुकों से बंधा हुआ ही परतन्त्रता के कारण पशु की भान्ति कष्ट पाता है, इसलिये यह परतन्त्रता ही बन्धन और त्याज्य है। [2] यह परतन्त्रता का भाव भी आत्मा का स्वेच्छा से अवकल्पित भाव होता है, जिसके सतत मनन से वह जीवत के भाव को प्राप्त कर लेती है। इसीलिये ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सभी परतन्त्रता के कारण जीवभाव का अनुभव कर रहे है,[3] चूंकि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी पराधीन है और परिपूर्ण स्वातन्त्र्य केवल परमसत्ता में ही है। इसीलिये पूर्ण सुख की इच्छा से पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। क्योंकि वह ही पूर्ण सुखप्रदा है। वास्तव में जीवता और शिवता सापेक्ष होने के कारण निश्चित् रूप से अपारमार्थिक है और स्वात्मा द्वारा ही अपने स्वातन्त्र्य से कल्पित होती है।[4]

इसलिये इन दोनों अवस्थाओं में अतीत, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द स्वरूप और पूर्णाहन्ता ही पारमार्थिक है,[5] इस प्रकार स्वेच्छा से महेश उस (जीवता-शिवता) को चाहता हुआ अपने स्वातन्त्र्य के विलास से उसको प्राप्त हो जाता है। [6] इसलिये जन्म-मरण तथा जीवता कल्पित मात्र है, इस समस्त-प्रपञ्च को स्वात्मरूपता से अनुभव करने से परमानन्द अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।[7]

लौकिक व्यवहार में भी सुख-दुःख को जिस प्रकार से कोई संकल्पित कर लेता है, उस को उसी प्रकार से उसका अनुभव होता है। पारमार्थिक रूप तो स्वात्मा के अतिरिक्त कुछ है

---

1. स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता। शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते॥ -तदेव, श्लो. 5
2. दण्डप्रहारः पशुभिः सह्यते हि निरन्तरम्।
   पारतन्त्र्यादेव ततो हेया हि परतन्त्रता।। -तदेव, श्लो. 6
3. ब्रह्मादिस्थावरान्तं हि जीवतामश्नुते चिरात्।
   परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्तिकारणाम्।। -तदेव, श्लो. 4
4. जीवता शिवता चैव सापेक्षा स्वविलासतः।
   अपारमार्थिकी नूनं कल्प्यते स्वात्मनैव हि।। -अ.वि., 3/8
5. अवस्थाद्वितयाऽतीतं परिपूर्णं किमप्यहो।
   सच्चिदानन्दस्वरूपमहन्तत्त्वं तदस्म्यहम्।। -तदेव, 3/9
6. सापेक्षतत्तत्स्वातन्त्र्यमीहमानः स्वयं प्रभुः।
   सापेक्षमेव लभते स्वातन्त्र्यं स्वविलासतः।। -अ.वि., 3/10
7. कल्पिते जन्मनिधने कल्पितां जीवतां यथा।
   स्वात्मविज्ञानमात्रेण विलाप्य सुखमश्नुताम्।। -तदेव, 3/11

ही नहीं। अतः इस दर्शन के अनुसार बन्ध और मोक्ष भी स्वात्मा द्वारा प्रकल्पित ही है। जब साधक स्वात्मविलास से परिपूर्ण हो जाता है, तो कल्पना के बन्धन से दुःख का अनुभव नहीं करता। इसीलिये इस दशा में उस को मोक्ष की अपेक्षा भी नहीं रहती। क्योंकि जहां दो वस्तुएं होंगी, जीव भाव का त्याग और शिवता का उपादान वहीं अपेक्षा रहती है। परन्तु परिपूर्ण अद्वैत तत्त्व स्वात्म मात्र में उपादान की कल्पना कैसे हो सकती है? इसीलिये परिपूर्ण स्वात्मविलास होने पर सर्वोत्कृष्ट स्वात्ममहेश्वर अपने विलास से स्वरूपचिदाग्नि में स्वकल्पित विश्वरूप की हवि का हवन करके अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् करके अपने परिपूर्ण माहेश्वर्य की स्थिति में परमानन्द का अनुभव करता है। अतः परिपूर्ण नैर्मल्य अथवा स्वातन्त्र्य की जीवित अवस्था में ही प्राप्त करने वाला साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। वह अपने विलास से सम्पूर्ण कर्मों को सर्वदा करते हुए अपने को दीपक के समान साक्षीमात्र समझते हुए व्यवहार करता है। उसको शुभ अथवा अशुभ कर्म बाँध नहीं सकता है; क्योंकि वह सभी कर्म आत्मज्ञानपूर्वक करता है। पूर्णनैर्मल्य का ऐसा महात्मय है कि उसमें स्वात्मविलास की करने पर भी उसका उससे स्पर्श नहीं होता। जैसे चन्द्रमा दुर्गन्धित जल से भरे हुए गड्डे में अपनी छाया को गिराते हुए भी कभी दुर्गन्धित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा का सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु से होने पर भी वह निर्मल होने के कारण उसको कभी भी कोई दोष नहीं लगता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरूष को किसी पाप से स्पर्श नहीं होता।

अतः आचार्य के इन विचारों से स्पष्ट है कि परिपूर्ण स्वातन्त्र्य परिपूर्ण चैतन्य, परिपूर्ण कर्तृता, परिपूर्ण नैर्मल्य अथवा परमसत्ता की अभिव्यक्ति स्वात्मप्रत्यभिज्ञान से ही होती है। तथा यह स्वात्मप्रत्यभिज्ञान श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरू की उपासना-सुश्रुषा से ही सम्भव होता है, अतः परमसत्ता का अनुग्रह अथवा शक्तिपात् स्वयं अथवा गुरू के रूप में होने से ही जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यह अनुग्रह की दैवी प्रेरणा सत्शास्त्र के अभ्यास के रूप में भी हो सकती है, जिससे आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है। इससे वह साधक अपने

हृदय में अपने स्वरूप-विलास से उल्लासित विश्वरूप आहुति का अनुपम चिद्रूपाग्नि मे होम करके अपने विलासरूपी पूर्णानन्द-अमृत का पान करने से पूर्ण नैर्मल्य को प्राप्त हुआ सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभित होता है।

(10). उपाय : काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के चार साधन अथवा उपाय बताये गये है, ये उपाय हैं अनुपाय, शाम्भवोपाय, शक्तोपाय तथा आणवोपाय। इन उपायों द्वारा साधक क्रमिक रूप से मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। शिव सृष्टि-प्रक्रिया में अवतीर्ण होकर जब बद्ध रूप ग्रहण करता है तो वह पहले आनन्द शक्ति को अभिव्यक्त करता है, फिर इच्छा शक्ति तथा उसके बाद ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को अभिव्यक्त करता है। किन्तु अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था की ओर अतिक्रमण करने में वह पहले क्रिया शक्ति की पूर्णता को प्रकाशित करता है, फिर ज्ञान शक्ति को तथा उसके बाद इच्छा शक्ति को और अन्त में आनन्द शक्ति के पूर्णरूपेण प्रकाशित हो जाने पर वह पुनः शिव के रूप में प्रकाशमान् हो जाता है, मोक्ष प्राप्ति के ये चार उपाय इसी क्रम का संकेत करते हैं। आणवोपाय क्रिया शक्ति को प्रकाशित करता है, शाक्तोपाय ज्ञान शक्ति को प्रकाशित करता है, शाम्भवोपाय इच्छा शक्ति को प्रकाशित करता है, तथा अनुपाय आनन्दशक्ति को प्रकाशित करता हे। इन उपायों को क्रम से क्रियोपाय, ज्ञानोपाय, इच्छोपाय तथा अनुपाय अथवा आनन्दोपाय कहा जाता है।

उपाय के लिए काश्मीर शैव शास्त्र में "समावेश" शब्द का भी प्रयोग किया गया है। उपाय को समावेश इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह अपूर्ण का पूर्ण में और अपूर्ण अहं का पूर्णाहन्ता में विलय कराता है। इनकें द्वारा ही सीमित चेतना का प्रेवश असीम चैतन्य में होता है। यह समावेश अथवा विलय सृष्टि-क्रम के विपरीत क्रम में होता है। सृष्टि-क्रम पूर्णावस्था से अपूर्णावस्था में अवरोहण है तथा मोक्ष का क्रम अपूर्णावस्था से पूर्णावस्था की और वापसी है। इसलिए इन उपायों का क्रम भी उसी क्रम के अनुसार निर्दिष्ट किया गया है। "समावेश" का तात्पर्य समाधि भी है। समाधि में अपने स्वरूप में ही स्थित हुआ जाता है। अपने स्वरूप में साधक पूर्ण शिव ही है। इसलिये समाधि द्वारा स्वरूप-स्थिति को "समावेश" कहा जाता है। समाधि की स्थिति भी उपर्युक्त क्रम को ही संकेत करती है।

इन उपायों पर पृथकता से विचार करने के पूर्व विचारणीय यह हैं कि इनकी मोक्ष-प्राप्ति में उपादेयता क्या है। अभिनवगुप्त ने इस पर पर्याप्त रूप से विचार किया है। अपने स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष की स्थिति में किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती और न ही किसी नवीन अवस्था की प्राप्ति होती हैं। मोक्ष वहीं प्राप्त किया जाता है, जो पहले से ही विद्यमान हैं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में शिव हैं तथा शिवता की प्राप्ति ही मोक्ष है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मोक्ष की स्थिति में कुछ नवीन प्राप्त नहीं किया जाता अथवा वही प्राप्त किया जाता है जो पहले से ही वर्तमान है, तो उसके लिये किसी नवीन साधन अथवा उपाय की क्या आवश्यकता हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो अपने पास नहीं है उसके लिए उपाय आदि की आवश्यकता होती है अथवा उसे उपाय आदि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु जो अपने पास पहले से ही हैं, उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। काश्मीर शैव दार्शनिक इस बात से सहमत है कि जो अपने पास ही हें, उसके लिए उपाय की आवश्यकता नहीं है, इसलिए वे मोक्ष प्राप्ति के सर्वोत्तम उपाय "प्रत्यभिज्ञा" को अनुपाय कहते हैं। मोक्ष अनुपाय द्वारा ही प्राप्त होता हैं, किन्तु जिन कारणों से हम वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते, उन कारणों के निवारण के लिए उपायों की आवश्यकता है अथवा उपायों का महत्त्व हैं। इनके अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप मलावरण के कारण परिच्छिन्न हो गया है, जिससे वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो

गया है। वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति के लिए अथवा वास्तविक स्वरूप में स्थित होने के लिए मलावरण का दूर होना आवश्यक है। बिना मलावरण दूर हुए आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकाशित नहीं हो सकती। उपाय अथवा साधनाओं द्वारा यह मलावरण दूर किया जाता है।

1. अनुपाय एवं शक्तिपात : शाम्भव उपाय का अभ्यास जब परिपक्व हो जाता है, तो बिना किसी भी अभ्यास के स्वयंमेव चिद्रूप "शाकतत्त्व" में स्थिरतया स्थिति बनी ही रहती है। इस स्थिति को अनुपाय कहते हैं। इस स्थिति में पारमेश्वरी पराशक्ति की अपने आप में विद्यमानता के साक्षात् विमर्शन से वह स्थिति परम-आनन्दमयी बनी रहती है, अपनी उस शक्ति के वैसे विमर्शन को ही अपने बल का अभिनन्दन कहा गया हैं। अनुपाय योग में चाहना, सोचना, समझना और ध्यान लगाना आदि किसी भी साधना के अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती हैं। क्रियायोग, ज्ञानयोग और इच्छायोग की परिपूर्णता इस अनुपाय योग में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रियायोग, ज्ञानयोग और इच्छायोग में से किसी भी उपाय का आश्रय लेने वाला साधक अन्ततोगत्वा अनुपाय योग की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अनुपाय एक ऐसा उपाय रहित (सरल) योग है, जिसमें आचार्य ने परमेश्वर के यथार्थवाची रूप में "शाक" शब्द का प्रयोग किया है। "शाक" से ही आणव, शाक्त, शम्भव आदि उपाय भी सम्भव होते हैं। सभी प्रकार के कारण एवं कार्यों की सामर्थ्य भी इसी में निहित है। इसलिये अनुपाय

पूर्णतया अनुग्रह मार्ग पर आधारित है, गुरू अर्थात् अनुग्रह शक्ति के सकृत्-उपदेश द्वारा स्वप्रकाशरूप आत्मा (शिव) का उन्मीलन हो जाता है। बारम्बार भावनात्मक अनुसन्धान नहीं करना पड़ता। अनुपाय मे बिना ध्यान के, बिना जप के, विधि रहित रूप से, ऐसे ही अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह से ही शिवात्मा प्रभु का प्रकाश प्राप्त हो जाता है। अनुपाय को आनन्दोपाय, सुखोपाय, सहजोपाय भी कहा जाता है। अनुपाय से प्राणी उत्कृष्ट जीवनमुक्ति का पात्र बन जाता है। साथ ही साथ अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का साक्षात् अनुभव भी करने लगता है। त्रिक् आचार का यह योग उस आचार का सर्वोत्तम योग कहलाता है।

यह प्रत्यभिज्ञा की भांति है, जिसको हम पारमार्थिक अन्र्तदृष्टि कह सकते हैं। जो व्यक्ति अपने अन्तस् में शिव की खोज कर लेता हैं अर्थात् जो प्रतिपादित शास्त्र के अनुसार इस बात का परिज्ञान प्राप्त कर लेता हैं कि उसकी अन्तरात्मा शिव तथा विश्व से अव्यतिरिक्त हैं, वह मुक्त हो जाता है। अतः सत्य के अन्वेषक जिज्ञासु के लिए चित्त की एकाग्रता, भक्ति तथा सद्गुरू के उपदेश आवश्यक अंग हैं। इसको अनुपाय इसलिए नहीं कहते हैं कि इसमें किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं, अपितु इसलिए कि उपायों का इसमें अत्यल्प महत्त्व है, यह वह मार्ग हैं, जिसमें चरम तत्त्व की प्राप्ति बिना भावना के हो जाती हे। इसमें साधक को चरम तत्त्व की प्राप्ति गुरू अथवा किसी आप्त पुरूष के शब्दों के

फलस्वरूप होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब परमशिव अथवा पराशक्ति का अनुग्रह हो जाता हैं, तो उसके फलस्वरूप साधक स्वयंमेव शक्तिपात की अनुभूति करता हैं, जिससे उसको यह अनुभव होने लगता है कि मैं शिव अथवा शक्तिस्वरूप ही हूँ।उसको सम्पूर्ण विश्व अपनी शक्तियों का विकास रूप अनुभव होने लगता है, उसकी सबके प्रति शिवमय भावना हो जाती है। यह आवश्यक नहीं कि साक्षात् शिव ही अनुभव करने के माध्यम बने, प्रत्युत्त किसी सिद्ध पुरूष अथवा ब्रह्म निष्ठ सद्गुरू के वचन, स्पर्श, दर्शन एवं उसके द्वारा प्रदत्त भोजन आदि ग्रहण करने मात्र से भी अपनी शिव स्वरूपता का सहज ही अनुभव होने लगता हैं।

2. शाम्भवोपाय : शाम्भवोपाय को इच्छोपाय भी कहते हैं, क्योंकि इसमें इच्छाशक्ति के प्रयोग से आत्मानुभूति के लिए प्रयास किया जाता है। साधना के इस स्तर पर इच्छाशक्ति का अन्य शक्तियों पर प्राधान्य होता हैं। इस स्तर पर साधना के ब्राह्मरूपों तथा उपासना आदि को महत्वूपर्ण नहीं माना गया है। यह साधना का आध्यात्मिक उच्चतम स्तर हैं। जहां सीमित अहं भाव का समर्पण किया जाता है तथा "सर्वाहं भाव" का अभ्यास किया जाता है। आचार्य ने जिस साधना को महामुनि भगवान् दुर्वासा से सीख लिया था और जिसके अभ्यास से इन्हें सद्धै दर्शन का परम अद्वैत सिद्धान्त अनायास ही साक्षात् अनुभव में आ गया था। इस निर्विकल्प साधना को ही शैव दर्शन का उत्कृष्ट प्रकार का शाम्भव-उपाय कहा गया है।

3. शाक्तोपाय : शाक्तोपाय को ज्ञानोपाय भी कहते है, जो क्रियोपाय (आणवोपाय) से उच्चतर मार्ग है, इस मार्ग में साधकद्वैत - ज्ञान से अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है। इस प्रयास में साधक आत्म-ज्ञान के लिए "आत्मा ही यह सब कुछ है अर्थात् अत्मैवेदम् सर्वम्" का अभ्यास करता है। इस ज्ञान के बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विकल्पों पर नियन्त्रण पा लेता है तथा उसका अद्वैत-ज्ञान दृढ़तर हो जाता है। यहां ज्ञान का ही प्राधान्य होने से इस मार्ग को ज्ञानोपाय कहते हैं ज्ञानोपाय द्वारा साधक शाम्भवोपाय में प्रयोग होने वाली ध्यान, समाधि आदि के लिए स्वयं को मानसिक रूप से तैयार करता है अथवा ध्यापन, मनन, भावना आदि का अभ्यास करता हैं।

आणवोपाय : आणवोपाय अथवा क्रियोपाय वह मार्ग हैं, जिसमें साधना के बाहर रूपों का प्रयोग आत्मानुभूति के लिए किया जाता है। उपासना के बाह्य रूप अथवा स्थूल रूप का प्रयोग इस मार्ग में किया जाता है। इस मार्ग के मुख्य कार्य मूर्तिपूजा (लिंग पूजा) तथा मन्त्रों का जप, पाठ, तीर्थाटन, योग इत्यादि हैं। मन्त्रों के जप को इस मार्ग में विशेष स्थान प्रदान किया गया हैं। यह मार्ग साधना पथ का प्रथम चरण हैं। विषयों से प्रभावित व्यक्ति इस मार्ग का अनुसरण करते हैं; क्रिया प्रधान होने से इसे कर्म मार्ग कहा जाता है। इस मार्ग को क्रियोपाय कहने का कारण यह भी है कि यह सद्विद्या स्तर की साधना है, जो क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति कर स्तर है।

कर्म, भक्ति तथा ज्ञान की दृष्टि से आणवोपाय कर्म मार्ग अथवा कर्म योग है, शाक्तोपाय ज्ञान मार्ग है तथा शाम्भवोपाय भक्ति मार्ग है। योग की दृष्टि से आणवोपाय हठयोग है, शाक्तोपाय राजयोग है तथा शाम्भवोपाय अध्यात्म योग हैं। आणवोपाय को हठयोग इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसमें योग की बाह्य शारीरिक क्रियाएँ, यथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि किया जाता है। शाक्तोपाय राजयोग है, क्योंकि इसमें योग की मानसिक क्रियाएँ ध्यान, मनन, भावना, मन्त्र आदि का अभ्यास किया जाता है तथा शाम्भवोपाय को अध्यात्म योग इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें योग की आध्यात्मिक साधनाएँ यथा धारणा, समाधि द्वारा पूर्णाहम् से एकाकार होता जाता है।

धर्म एवं नीति विष``यक : आचार्य ने न केवल दर्शन को ही अपना वर्ण्य-विषय बनाया हैं, अपितु धर्म एवं नीति विषयक बातों को भी स्पष्ट करना उचित समझा है। इसी के परिणाम स्वरूप इन्होंने विवाह, तीर्थ, देव शरीर वर्णन, पूजा एवं स्तुति और गुरूतत्त्व पर भी रचनाएँ लिखी हैं, जिनसे इनके रहस्य को समझने में बहुत सहजता हुई हैं।

विवाह : आचार्य अमृतवाग्भव द्वारा रचित श्रीसप्तपदीहृदयम् सहृदय व्यक्तियों के हृदयपटल पर विवाह के जीवन की एक अवर्णनीय, उदात्त छाप डालता है। विवाह में स्त्री-पुरूष विशेष नियम से पति-पत्नी भाव को प्राप्त होते हैं। विवाह शब्द योगरूढ़ है। मनु आदि महर्षियों ने विवाह के आठ भेद

बतलाये हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और तुच्छ पैशाच। भृगु मुनि ने कहा है कि जिस वर्ण का जो विवाह धर्मयुक्त है, जिस विवाह के जो गुण-दोष है और उक्त विवाह से सन्तान उत्पन्न होने पर जो गुण-दोष है, उनका वर्णन इस प्रकार है कि ब्राह्मण के लिये प्रथम छह प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व), क्षत्रियों के लिये अन्त वाले चार प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व, पैशाच और राक्षस) और वैश्य तथा शुद्र के लिये "राक्षस" रहित तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गान्धर्व और पैशाच) का विधान हैं। विद्वानों ने ब्राह्मण के लिये प्रथम चार (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य), क्षत्रिय के लिये एक "राक्षस" विवाह और वैश्य तथा शुद्र के लिये एक "आसुर" विवाह को प्रशस्त बतलायाहै। इन आठ प्रकार के विवाहों के क्रम से लक्षण इस प्रकार है :

1. ब्राह्म विवाह : वेद पढ़े हुए सदाचारी वर को स्वयं बुलाकर, उसकी पूजाकर और वस्त्र-भूषणादि से दोनों (कन्या-वर) को अलङ्कृत कर कन्यादान करना धर्मयुक्त "ब्राह्म" विवाह है।

2. दैव विवाह : ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक् के लिये (वस्त्रालङ्करादि) अलङ्कृत कन्या का दान करने को (मुनिलोग) धर्मयुक्त "दैव" विवाह कहते है।

3. आर्ष विवाह : गो-मिथुन (गाय और बैल दोनों) या गाय अथवा बैल (दोनों में से कोई एक-एक या दो-दो) यज्ञादि धर्मकार्य करने या कन्या को देने के लिये वर से लेकर (मूल्य या धन लाभ की दृष्टि से लेकर नहीं) विधिपूर्वक कन्यादान करना धर्मयुक्त "आर्ष" विवाह कहा गया है।

4. प्राजापत्य विवाह : तुम दोनों (वर-वधू) साथ में धर्माचरण करो" ऐसा वचन कह कर तथा (वस्त्रालङ्कारादि से उनका) पूजन कर कन्यादान करना "प्राजापत्य" विवाह कहा गया है।

5. आसुर विवाह : जाति वालों (कन्या के पिता, चाचा इत्यादि) तथा कन्या के लिये यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छा से कन्या का स्वीकार करना "आसुर" विवाह कहा गया है।

6. गान्धर्व विवाह : कन्या और पुरूष के इच्छानुसार परस्पर स्नेह से संयोग (आलिङ्गनादि) वा मैथुन होना "गान्धर्व" विवाह कहा गया है।

7. राक्षस विवाह : कन्या के पक्षवालों को मार कर या उनका अङ्गच्छेनादि कर और गृह या द्वारादि को तोड़ कर चिल्लाती तथा रोती हुई कन्या का बलात्कार से हरण करके लाना "राक्षस" विवाह कहा गया है।

8. पैशाच विवाह : सोई हुई, मद आदि से व्याकुल और अपने शील की रक्षा करने में प्रमादयुक्त कन्या के साथ विवाह (मैथुन) करना अत्यन्त निन्दित आठवां "पैशाच" विवाह कहा गया है।

वैदिक विवाहविधि में सप्तपदी एक ऐसा रमणीय आचार है जो गम्भीर भी है। ऋषियों के आदर्श के अनुसार ब्राह्म आदि आर्योचित विवाह सप्तपदी की विधि के पूरा हो चुकने पर ही सम्पूर्ण माने जाते हैं। इसलिए विवाह के अनुष्ठान में सप्तपदी परम्परा का बहुत बड़ा महत्व है। इस कृति की रचना विक्रम सम्वत् सन् 1996 (1930 ई०पू०) में माध वदि एकादशी रविवार को हुई। आचार्य द्वारा इसमें परिवार की भौतिक अभ्युन्नति के लिये क्रमशः अन्न, बल, धन-धान्य, सुख, पशुसम्पत्ति, काम-सुखसन्नति और सख्यभाव के परस्पर उपार्जन, वृद्धि, संरक्षण, वितरण आदि के लिये सात प्रगति रूपी प्रयोजनों का, उन प्रयोजनों के अनुकूल वर-वधु की परस्पर प्रतिज्ञाओं का तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये एक साथ भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोकों में क्रम से संक्रमण के संकल्पों का परस्पर संवाद रूप में सुन्दर वर्णन किया है।

आचार्य महोदय ने "श्रीसप्तपदीहृदयम्" की रचना करके संसार का उद्धार किया है। इन्होंने इस रचना में विवाह का ठीक-ठीक स्वरूप, अनौखापन, अर्थगौरव और उच्च कोटि का कल्पनालालित्य दिखाया है। इस विश्व के सुखों को सब कुछ समझने वाले, बहिर्मुख पाश्चात्यजनों की सारी की सारी जीवन शैली शिरोधार्य एवं अनुसरण करने योग्य है ऐसे जिन नई सभ्यता में पले लोगों के विचार बन चुके है उनके अज्ञानान्धकार का विनाश करने के लिये यह "श्रीसप्तपदहृदयम्" नामक रचना सूर्य के समान हमेशा प्रकाशवान्

होकर रहेगी। इन्होंने इस रचना की सृष्टि करके भारत की सचमुच बहुत बड़ी सेवा की है। "श्रीसप्तपदींहृदयम्" विश्वसाहित्य में एक अद्वितीय पुस्तक है। सप्तपदी के विषय में इस पुस्तक से पहले कोई भी इस विषय की सुन्दर पुस्तक नहीं थी। यह रचना विवाह के इच्छुक मानवमात्र के लिये परम आवश्यक है। जो भी सुखमय वैवाहिक जीवन बिताना चाहते हैं उनके ऐहिक और आमुष्मिक दोनों लोकों के अभ्युदय की भरपूर सामग्री इसमें प्राप्त हो सकती है।

सप्तपदी हिन्दुविवाहसंस्कार की उत्तम तथा अन्तिम रीति है। यह वर-वधू के बीच सच्चे प्रेम एवं सौहार्द का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करती है। आचार्य ने इस रचना में विवाह के सम्बन्ध में जिस श्रेष्ठ धारणा का प्रतिपादन किया है उसको स्वीकार करने से विश्व का क्या भला हो सकता है। वे अपनी इस धारणा को नूतन घोषित करते हैं। इनके मत से यह धारणा भारत के सनातन एवं श्रद्धालुओं के लिये ही उपयोगी नहीं, अपितु दूसरे राष्ट्रों और जातियों के लिये भी लाभदायक है। यदि संसार के दृष्टिकोण को ही ध्यान में रखा जाए तो भी विवाह की आचार्य अमृतवाग्भव-कृत व्याख्या बड़ी ही सुन्दर है और मानव जाति के कल्याण, समृद्धि एवं सांसारिक हित के लिये सहायक है। इनका कहना है कि विवाह प्रेम की चाह के अनिवार्य प्रवाह के लिये बनाई गई विजयोल्लासिनी नदी है। यह सज्जनों के प्रेम करने की नियन्त्रित एवं परिष्कृत विधि है। कामदेव की

सबसे अच्छी पूजा विवाह का मन्दिर बना कर हो सकती है। यह वह निकुंज है यहां वर वधू वृहत्संसार और सूक्ष्मसंसार के स्वाभाविक स्वरूप को क्षति पहुंचाये बिना अपनी वृत्तियों का सुचारू रूप से पोषण करते हुए रह सकते हैं। पूज्यपाद द्वारा सुझाई गई सात लोकों की विजय के लिये हमें सच्चे प्रेम की परिपाटी के अनुसार सप्तपदी की धार्मिक भावना का पोषण करना चाहिये। सप्तपदी एक बहुत ही महत्वपूर्ण वैवाहिक जीवन का आरम्भ बन सकती हैं और यही सप्तपदी एक आनन्दमय वैवाहिक जीवन का सबसे अच्छा मार्ग हैं। यदि इसकी भावना का संकुचित अर्थों में भी प्रयोग किया जाए तो भी यह अनेक बुराइयों को दूर कर सकती हैं तथा कामजन्य समस्याओं का बहुत अंशों में समाधान कर सकती हैं। यद्यपि सप्तपदी की प्रतीकात्मक वितति एवं प्रदर्शन एक खेल दिखाई देता हो और हिन्दु विवाहपद्धति का कर्मकाण्ड व्यर्थ लगता हो, फिर भी उत्कृष्ट उद्देश्य की व्यापकता वाली संस्कृति के संरक्षण के लिये यह आवश्यक हैं।

आचार्य ने कहा है कि शिव-शक्तिमय इस सम्पूर्ण विश्व में सब लोग किसी न किसी प्रकार के सम्पर्क में बंधे हुए एक दूसरे के आनन्द के लिये काम कर रहे हैं। अपने-अपने समाज में बनाये हुए नियमों के अनुसार जब स्त्री-पुरूष एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते है तो इस संस्कार को श्रेष्ठ शास्त्रों के रहस्य को जानने वाले लोग विवाह के नाम से पुकारते हैं। “श्रीसप्तपदीहृदयम्” नामक धार्मिक कृति सचमुच ही

प्रशंसा के योग्य है। इसमें वर के द्वारा की जाने वाली "एकमिषे" इत्यादि सात प्रतिज्ञाओं का गृह्यसूत्रों में बहुत संक्षिप्त वर्णन मिलता है सारे विश्व के कल्याण के साधनों को तथा पुरानी से पुरानी एवं नई से नई परम्पराओं को समझने वाले, भारतवर्ष के सनातन महर्षियों के द्वारा चलाई गई विवाह पद्धति में सप्तपदी उत्तम और अन्तिम कार्य है। शिव-शक्तिमय इस सारे संसार के व्यक्तियों का एक दूसरे के सुख के लिये सप्तपदी से प्रतिज्ञाबद्ध होकर विवाह करना परम कल्याणकारक है।[1]

पूज्यपाद का कहना है कि पहले पग (लावाँ-फेरा) पर पति अपनी पत्नी से कहता है कि अमृत का भोजन करने वाली, मेरे गुरू, अतिथि, पुत्र एवं सगे सम्बन्धियों को अनेक प्रकार के बनाये गये खाने पीने के पदार्थों से प्रसन्न करने वाली तुम अपने राष्ट्र के आदर का पात्र बन सकती हो और मेरे घर में रहती हुई तुम इस लोक (भूलोक) को भी जीत सकती हो। इसलिये विष्णुरूप मैं तुम्हें अन्न के लिये एक पग अपने साथ ले कर चल रहा हूँ। पति के ऐसा कहने पर पत्नी (बहू) कहती है कि आप जो भी अन्न कमाकर लाओगे उसे मैं सुरक्षित रखूंगी और भलीभान्ति पकाकर आपको खिलाऊंगी। आपकी आज्ञा से आपके परिवार को भी तृप्त करूँगी।

दूसरे पग पर पत्नी से पति कहता है कि सुन्दर दृढ़ शरीर वाली, पवित्रता, आचार ओर विचार से सुव्यस्थित घर की सम्पूर्ण सामग्री से

---

1. शिवशक्तिमयं विश्वं परस्परसुखाप्तये।
विवाहितं विजयते सप्तपद्या प्रतिश्रुतम्।। –स. ह., श्लो. 1

सम्पुष्ट मेरा परिवार और मै बलवान्, स्फुर्तिमान् एवं प्रसन्नहृदय बन कर अपने राष्ट्र को महान् बना सकूँगा। जिससे तुम मेरे साथ भुवर्लोक की यात्रा कर सकोगी। अतः विष्णुरूप मैं तुमको शरीर और प्राणशक्ति की उन्नति के लिये दो पग अपने साथ लेकर चल रहा हूँ। पति की यह बात सुन करके बहु कहती हैं कि आपके घर की सामग्री को अपनी शक्ति के अनुसार मैं पवित्रता आदि से इस ढंग से सम्भाल कर रखूंगी कि वह आपके तथा आपके परिवार के लिये स्फूर्तिदायक एवं आरोग्य प्रद होगी। तीसरे पग पर पति-पत्नी से कहता है कि अर्थ शास्त्र को जानने वाली, शुभलक्षणसम्पन्न, अनेक उपायों से धन कमाता हुआ मैं उसकी रक्षा का सारा विचार भार तुम्हें सौप दूंगा। इस भान्ति अपने राष्ट्र को धनाढय बनाता हुआ मैं तुम्हारे साथ स्वर्गलोक को जीतने में सफल हो जाऊंगा। अतएव विष्णुरूप मैं तुमको धन की समृद्धि के लिये तीन पग अपने साथ लेकर चल रहा हूं ऐसा कहने पर बहु कहती है कि घर में सुखपूर्वक रहने के सब पदार्थ धन से ही प्राप्त होते हैं। उचित उपायों से कमाया हुआ आपका जो धन होगा उसका मैं ऐसा संग्रह करूंगी जिससे की आपको बहुत ही खुशी होगी। आय और व्यय आदि का भी ठीक मेल करूंगी और उससे आपको सूचित कराती रहूंगी।

चौथे पग पर पत्नी से पति कहता हैं कि सुख देने के उपायों को समझने वाली, मैं अपने घर की वस्तुओं की रक्षा और विस्तार का भार

तथा अनेक प्रकार के बढ़िया-बढ़िया पदार्थों के संग्रह की चिन्ता तुम्हारे सिर पर छोड़ दूंगा। भांति-भांति के सुख देने वाली वस्तुओं से अपने राष्ट्र को समृद्ध बनाता हुआ इस लोक में यश प्राप्त करता हुआ तुम्हारे साथ महर्लोक को जीत सकूंगा। इसलिए विष्णरूप मै तुम्हें सांसारिक पदार्थों के सुख के लिये चार पग अपने साथ ले करके चल रहा हूँ। पति के ऐसा कहने पर बहु कहती है कि घर बसाकर रहने वालों को सुख देने वाली जितनी आवश्यक वस्तुएँ हो सकती है मै उनका ठीक-ठाक संग्रह करूँगी और परिवार सहित आपको निरन्तर सुख देती रहूँगी।

पाँचवें पग पर वर-वधु से कहता है कि वार्ता (खेती, व्यापार और पशुपालन) को जानने वाली, शुद्ध विचारों वाली, गाये के घी, दूध आदि, स्मरणशक्ति, बल, कान्ति और आरोग्य के श्रेष्ठ कारण हैं और जो (घी, दूध आदि) पशुओं के पालन से प्राप्त हो सकते हैं। अतः मै तुमको उनके पालन का काम सौप कर राष्ट्रोन्नति के काम में जुट जाऊँगा और इस भान्ति तुम्हारे साथ जनलोक को जीत सकूँगा। इसलिए विष्णुरूप में तुमको पशुपालन के लिये पाँच पग अपने साथ ले कर चल रहा हूँ। वर के ऐसा कहने पर वधु कहती है कि जिन पशुओं से दूध, दही आदि प्राप्त होते है, जिनके बल पर खेती और व्यापार होता है तथा जो गृहस्थों को बहुत सुख देते हैं उन पशुओं का मै पालन करूँगी।

छठे पग पर वर विशुद्ध कामना करनी वाली वधु से कहता हैं कि आत्मा का निवास शरीर में बहिर्मुख आनन्द की प्राप्ति के लिये हैं। इसलिये मैने तुमसे विवाह किया हैं। मै चाहता हूँ कि मन-चाहे ढंग से सब ऋतुओं का सुख भोगता हुआ ऐसे यशस्वी वंश की प्रतिष्ठा करूँ जो राष्ट्र को सन्तुष्ट करने वाला हो। तब मै तुम्हारे साथ प्रसिद्ध तपोलोक को जीत सकूँगा। अतएव विष्णुरूप मै तुमको ऋतुओं का सुख भोगने छह पग अपने साथ लेकर के चल रहा हूँ। वर के ऐसा कहने पर वधू कहती हैं कि सब ऋतुओं में मै अपना प्रेम आपको दूँगी। मै आपकी इतनी पूजा करूँगी कि सदा प्रसन्न रखूँगी। मै आपके ओर अपने बीच में कोई अन्तर नहीं रखूंगी।

आचार्य महोदय का कहना है कि सातवें पग पर पति-पत्नी से कहता है कि मुनि लोग मित्रता को साप्तपदीन (सात पग साथ चलने से होने वाली) कहते हैं। अत: मैं भी तुम्हारे साथ उतना चलकर (वैसी मित्रता स्थापित करके) सातवें लोक (सत्य लोक) को जीत लूँगा। मोक्ष की इच्छा मन में बसा कर यदि तुम राष्ट्र के उन्नतिकर्मों में मेरे पीछे-पीछे चलोगी तो मोक्ष तुम्हारे लिये दुर्लभ नहीं होगा। बहु की सहमति जानकर अन्त में पति कहता है कि हे सखे, मेरे साथ सात पग वाली मित्रता (पूर्णमित्रता) प्राप्त करो तथा मेरी इच्छा का अनुकरण करने वाली बनो। पति के ऐसा कहने पर बहु कहती हैं कि यह जो मै आज आपकी उत्तमकोटि का मित्र

बन गई हूँ इससे मैंने मनुष्यदेह का सारा फल प्राप्त कर लिया हैं। मैंने आपके साथ जो भी प्रतिज्ञाएँ की हैं उन सबको मन में बसा कर मैं आपको ही पूरे हृदय से चाहती रहूँगी।

2. तीर्थ : तीर्थ एक ऐसे स्थान को कहते है, जो परम पवित्र शक्ति एवं श्रद्धा का प्रतीक तथा असंख्य लोगों की धार्मिक भावना से जुड़ा होता हे। यह किसी महापुरूष अथवा देवी-देव से सम्बद्ध होता है। इसकी यात्रा करना, दर्शन करना, यज्ञ-दान-होम आदि करना परम पवित्र माना जाता है। आचार्य को भी तीर्थ स्थानों के प्रति गहरी धार्मिक आस्था थी, इसलिये इन्होंने यथासम्भव बहुत से तीर्थ स्थानों की यात्रा ही नहीं कि अपितु उनके मनोहारी दृश्यों का अथवा अनुभवों का वर्णन भी किया हैं।

हिमाचल यात्रा : आचार्य महोदय ने सुना था कि हिमाचल प्रदेश में बहुत सी पावन नदियां और धार्मिक तीर्थ स्थान है, इसी अभिलाषा से वह हिमाचल प्रदेश में भ्रमण करने गए थे। वास्तव में हिमाचल प्रदेश के दृश्य देखने में बहुत ही रमणीय है, उनको देखने से मन में स्फुर्ति उत्पन्न होती है, पूज्यपाद ने भ्रमण करते हुए जिन-जिन धार्मिक तीर्थ स्थानों के दर्शन किए वे निम्नलिखित हैं :

निर्मण्ड : मणिकर्ण तीर्थ को देखने की अभिलाषा से आचार्य भ्रमण करते हुए किन्नर देश (रामपुर बुशहर) में पहुंच कर पावन नदी शतद्रू (सतलुज) को पार करके कल्लू देश को पहुंचे। कल्लू देश में निर्मण्ड नाम

का एक बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है। इस स्थान पर कभी श्रीजमदग्नि के पुत्र (श्री परशुराम) ने तात्कालिक शासकों के अन्दर जो दोष उत्पन्न हुए थे उनको जला डालने के लिए और सर्वसाधारण लोगों में पुण्यों का संचार करने के लिए तपस्या की थी। इस तीर्थ स्थल के दर्शन करने से पुण्य की प्राप्ति होती हैं

भुवन्तर : हिमाचल प्रदेश में यह बहुत ही पवित्र स्थान माना गया है। इस पवित्र स्थान के दर्शन पर्वत की कई श्रेणियों को पार करके विपाशा (व्यास) नदी के पार जाकर उसके तट के साथ-साथ चलने वाले रास्ते से ऊपर की ओर क्रम से जाते हुए होते है। कुल्लू देश में प्रयाग-राज के समान दो पावन नदियों के सङ्गम से युक्त यह अर्थात् भुवन्तर नाम का एक मनोहर स्थान है। यहां पर पार्वती नदी अपने प्रवाहों से विपाशा नदी के साथ मिल कर क्रीड़ा करती रहती है। पूज्यपाद इस पवित्र सङ्गम को भी पार करके और पार्वती नदी के भी उद्गम की ही ओर ग्यारह कोस का मार्ग चल करके उस पावन मणिकर्ण तीर्थ स्थान पर पहुंचते है।

मणिकर्ण : आचार्य महोदय सन् 1931 ई०पू० में कुल्लू देश में मणिकर्ण तीर्थ की यात्रा को गए थे। इनका कहना है कि मणिकर्ण तीर्थ बहुत ही पावन, दिव्य और उछलते हुए जल प्रवाहों को धारण करने वाला है। वहां का जल स्वभाव से ही उष्ण है। पार्वती नदी ही इस तीर्थ को पुत्र के समान गोद में उठा करके इसका पालन-पोषण करती है।

पार्वती नदी : हिमाचल प्रदेश में पार्वती नाम की एक पवित्र नदी बहती है। जो कोई भी उस नदी में स्नान करता है उसके पापों एवं रोगों की निवृत्ति सम्भव है। पार्वती नदी हिमालय पर्वत की पुत्री है।

कांगड़ा : हिमाचल प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने एवं वहां के तीर्थ स्थलों का अवलोकन करने के लिये इन्होंने वहां के अनेकों स्थानों की यात्रा की जिनमें से एक प्रमुख कांगड़ा है। वह कुछ देर कांगड़ा मण्डल में ही रहें, परन्तु अधिक समय ठाणे में व्यतीत किया। कभी-कभी नगरोटा, भवन, समलोटा, पठियार, अमुवाडी कटनौर आदि ग्रामों में भी जाते रहे। चामुण्डा देवी, वज्रेश्वरी देवी, वीरभद्र चिन्तपूर्णी, नन्दिकेश्वर आदि के दर्शन भी करते रहे। इसके अतिरिक्त वह समलोटी, जलबिम्ब, कालेश्वर, धर्मशाला, डाडा चौक, नरमाणा, परतिपाल, हरिपूर, मौजें, खैरियां, सकरौटी, सन्ता, कालका, जाबली, धर्मपुर, जभाचा, सपाटू, मंगवाल, जिणोटा, पण्डिटेड पड़ूआ आदि स्थानों पर भी गये।

कश्मीर यात्रा : पूज्यपाद की यह कश्मीर यात्रा अतीव महत्त्वमयी हैं। इस यात्रा को करते समय वे पूर्ण यौवन में थे। उनका शरीर स्वस्थ और बलवान् था। उनकी इच्छा-शक्ति काफी प्रबल थी। फिर इस यात्रा से पहले तीर्थ यात्रा के चलते-चलते और कई वर्ष उसके अनन्तर भी वे भगवान् दुर्वासा के द्वारा उपदिष्ट उत्कृष्टतम शाम्भवी योगसाधना का अभ्यास प्रायः नियम-पूर्वक किया करते थे । उसके फलस्वरूप इन्हें कश्मीर मण्डल

के अनेकों देव-स्थानों में अपूर्व दिव्यदर्शन होते रहे। अनेकों देवता अपने विचित्र रूपों में इन्हें दर्शन देते ही रहें। विशेष करके अमरनाथ की गुफा में जो शिव-शक्ति का दर्शन इन्हें प्राप्त हुआ वह अत्यन्त आश्चर्य कारक हैं। इसी तरह से भगवती शारदा देवी ऐसे विचित्र रूप में इनके सामने प्रकट हो गई, जिसे वह उस समय समझ नहीं पाए, सबसे अधिक महत्त्व वाला दिव्य दर्शन अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने दिखाया था, उसी दर्शन के समकक्ष भगवती शैलपुत्री ने इनको दिव्य दर्शन दिया। इन्होंने उस दर्शन को "आत्मसाक्षात्कार" नाम दे रखा है, क्योकि उन्हें उस दर्शन में अपनी विश्वात्मकता का साक्षात् अनुभव हो गया। उसी यात्रा में आचार्य को श्रीनगर में एक अज्ञात सिद्ध मानव के दर्शन हरि पर्वत पर शारिका देवी के पवित्र धाम में हुए।

ह्वाल से 11 मील दूर भेड़गिरि नाम के पर्वत की उपत्यका में एक दिव्य स्थान है, जहां पर्वत शिखरों के बीच एक काफी बड़ा चश्मा है उस चश्में में देवी हंस वागीश्वरी का स्थान है। कल्हण ने "राजतरङ्गिणी" में लिखा है कि "भेड़गिरि के शिखर पर भगवती हंस वागीश्वरी एक सरोवर के बीच में राजहंसी के रूप में अपने भक्तों को दर्शन दिया करती है" इन्होंने हंस वागीश्वरी के सरोवर में स्नान किया और वहां के दृश्यों को देखकर बड़ा आनन्द उठाया।

इनके अतिरिक्त इन्होंने कश्मीर के बारामूला, अनन्तनाग, पहलगाम, शेषनाग, चन्दनवाड़ी, पंचतरणी, मटन, (मार्तण्ड क्षेत्र) सोपुर, सोफ (कोकरनाग) कतनौर, "सीबों का थाना", नागिल, नूरपूर रोड, पडियारी, शेरपुर, कठोला, शादीवाल, पुखरीबल, सीर, साली, हांगलगुण्ड आदि स्थानों की भी यात्रा की।

विविध स्थल यात्रा : हिमाचल ओर कश्मीर के अतिरिक्त इन्होंने पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, जम्मू इत्यादि प्रदेशों की यात्रा भी की, जिसमें इन्होंने वहां के प्रसिद्ध स्थलों का भ्रमण किया।

3. देव शरीर वर्णन : आचार्य का हृदय धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत भी था, यद्यपि वह एक सफल दार्शनिक थे। यही कारण हैं कि वह अद्वैतवाद में अर्थात् निजात्मा (जीव) और परमात्मा (परमशिव) में अभिन्नता मानते हुए भी अपने परमगुरू सिद्ध दुर्वासा, परा भगवती एवं अन्य सिद्ध महापुरूषों के देव शरीर का अति सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन करते है, जिनके दिव्य दर्शनों से वे कृतकृत्य हुए थे।

1. सिद्ध दुर्वासा : आचार्य पद पर आरूढ़ श्रीअमृतवाग्भव जी ने भगवान् दुर्वासा के शरीर के अङ्गों का वर्णन बहुत ही अच्छे ढंग से किया है जो इस प्रकार हैं :

(क). शरीर : आचार्य का कहना है कि उनके ये नेत्र विशाल है और उनके तारे शाहद के समान पिङ्गल वर्ण के हैं। उनका शरीर पतला

और लम्बा है। उनके शरीर की कान्ति तपे हुए स्वर्ण की कान्ति के समान गौर है। उनकी दाढ़ी लम्बी है, दान्त चमकीले सफेद है, माथा विशाल है, कपोल सुन्दर है, शरीर का वर्ण खूब चमकीला है, भौंहें धनुष के समान वक्र है, दृष्टि प्रसन्न है और मुख में मुस्कराहट है। भगवान् दुर्वासा जी के कान बड़े-बड़े है। उनके सारे शरीर पर रोम है, मूछें उनकी लम्बी-लम्बी है और बाहु विशाल है। उनके घने ओर लम्बे केश पिङ्लवर्ण के है। उनका नाक तोते की नाक की तरह मध्य में ऊपर उभरा हुआ है। चेहरा उनका ज़रा लम्बा सा है, हाथ ओर पैर अरूण वर्ण के है, सिर विशाल है, ठोडी सुपुष्ट है, पेट भीतर की ओर चिपका हुआ सा है और ग्रीवा शंख के समान वर्तुल है।

(ख). वेष-भूषा : पूज्यपाद अमृतवाग्भव जी ने भगवान् दुर्वासा की वेष-भूषा का वर्णन करते हुए कहा है कि उन्होंने ऊपर पण्डितों की चादर जैसा वस्त्र धारण किया हुआ है और नीचे अगोछे का जैसा एक वस्त्र घुटनों तक लपेटा हुआ हैं। उनके वस्त्र हिमधवल नहीं हैं। ज़रा मलिन से है, फिर भी स्वच्छ और उत्तम है। ऊपर वाला वस्त्र दाएँ बाजू को ऊपर उठाकर यज्ञोपवीत की शैली पर पहना हुआ है। अर्थात् उसका एक छोर आगे से और एक पीछे से लटक रहा है। गले में रूद्राक्षों की माला पहने है, सिर पर एक और ऐसी माला पहने है। कानों में रूद्राक्ष पहने है और कलाइयों में भी छोटे-छोटे रूद्राक्षों के सुन्दर कड़े धारण किए हुए है। माथे

पर भस्म का त्रिपुण्ड लगाया है।

भावभङ्गिमा : आचार्य महोदय अपने गुरू भगवान् दुर्वासा की भावभङ्गिमा और महिमा आदि का वर्णन करते हुए कहते है कि वे धर्म की साक्षात् मूर्ति है। अपनी साक्षात् अनुभूति से वे निगमों और आगमों के, अर्थात् वेदों और तन्त्रों के रहस्यों को जानने वाले हैं। वे शरीरधारी शिव ही है और यथार्थ सन्मार्ग पर चलने वाले सिद्धों के एक आदि गुरू है। भगवान् दुर्वासा जी का चित्त प्रशान्त है, अन्तरात्मा सुप्रसन्न और निर्मल है तीनों ही कालों, अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का उन्हें ज्ञान हैं। मुनियों में वे श्रेष्ठ है और निग्रह और अनुग्रह की लीला का अभिनय करने के लिए इस भूलोक में अवतार लेते है। अपने आनन्द के रस में आते हुए अपनी लीला के अभिनय में वे प्राय: क्रोध की प्रधानता को अपना करके ही लोगों पर अनुग्रह करने वाली नाट्य लीला को खेलते रहते है। वे (भगवान् दुर्वासा) मेरे "शाकदर्शन" के गुरू हैं, एवं सुविशाल अनुग्रह की साक्षात् मूर्ति है।

II पराभगवती : आचार्य ने भगवती के अङ्गों का वर्णन करते हुए कहा है कि भगवती के चरणकमल लाख की ललाई से भी अधिक अरूणिम-शोभा वाले है। जिनमें पहिने हुए नूपुरों की ध्वनि ब्रह्मज्ञान का बोध कराने में हेतु भूत है। इनके अरूद्वय, रम्भा (कदली वृक्ष) के काण्ड की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाले और तपाये हुए (तप्त) सुवर्ण के

समान कान्ति वाले हैं। पीतवर्ण के वस्त्र के ऊपर पहिनी हुई स्वर्ण कांची अतिशय पतिता के कारण बालारूण के प्रभामण्डल के समान नितम्ब-प्रदेश पर सुशोभित है। महाकाशरूपी भगवती के उदर में (असंख्य) ब्रह्माण्ड बुलबुलों के समान निरन्तर उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। वह अत्यन्त गुह्य उदर-प्रदेश हमारे बहुत से जन्मों को घूमते रहते के कष्ट को विनष्ट करने का साधन (कारण) बन जाए।

इनके दक्षिण हाथ में अक्षमाला और दक्षिण भाग के दूसरे हस्त में पुस्तक, (वेद) बाएं हाथ में अभयमुद्रा ओर बाएं भाग के दूसरे हाथ में वरमुद्रा है। भगवती की धारण की हुई कंचुकी अमित आभावाली है। पीले रंग की होने पर भी उसमें एकावली के मणिरत्नों की छवि छलकती हैं। इनके वक्षः स्थल पर हारावली है, वह विविध मणि-रत्नों से परिपूर्ण है, उन रत्नों की शोभा से निर्मल आकाश में चमकने वाले शुक्रादि ग्रहों की आभा भी तिरस्कृत हो रही है। इनका मुख पूर्ण प्रकाशमान् रात्रि (पूर्णिमा के चन्द्रमा) के समान हैं। भगवती की नासिका की अनुपम शोभा हैं। वह उत्तम शुक, तिल का पुष्प ओर चम्पाकली से भी अत्यधिक रमणीय हैं। भगवती का मन्दस्मित-स्वरूप बहुत ही सुन्दर हैं। एक ओर होठों के रक्त होने से होठों की छाया रक्तवर्णा और रदन (दन्तपंक्ति) के श्वेत होने से ये सितरक्त शोभावली दोनों सखियाँ हैं, दूसरी ओर सितवर्णा सरस्वती तथा शोणवर्णा रसना छाया दो सखियाँ हैं, इस प्रकार ये चारों सखियाँ मानों

मुखरूपी घर में साथ-साथ रहती है, मन्दस्मित के समय चारों सखियाँ बाहर घूमने के लिये सितसखी सित के साथ और रक्तवर्णा सखी रक्तसखी के साथ निकलती है, तो सितशोण सखियों के मिलने से चारों मिल कर पाटली पुष्प का रूप ले लेती हैं। इनके दोनों कर्णों के ताटङ्क सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति से भी अत्यधिक शोभायमान् हैं। इनका वर्ण गौर है, वे रक्ताम्बरा है, मणि-मणिक्यादि से युक्त है, अतः विविध छवियों से मिल कर जगदम्बा के गण्ड युग्ग की शोभा पातलीपुष्पशोभा के समान हैं। चकित हिरणियों के समान चञ्चल नेत्रों वाली है और वर्षाकालीन मेघ के समान करूणापूर्ण चित्तवाली हैं। इनकी दोनों भ्रूकुटियाँ काम धनुष को भी मात करने वाली है। इनके मस्तक पर विराजमान अर्द्धचन्द्र अष्टमी के चन्द्रमा से भी सुललित है। इनके काले बाल शारद् मेघ से भी अत्यधिक श्याम और चमकीले हैं और वेणी सुरभि-पूर्ण कुसुमों से सुशोभित हैं। इनके पूर्ण शरीर का प्रभामण्डल अत्यन्त दिव्य और तेजोमय हैं।

भगवान्-शिव : पूज्यपाद जी ने भगवान् शिव के अङ्गों का वर्णन करते हुए कहा हैं कि उनका कण्ठ सुन्दर भौरों के समान नीलवर्ण का है, कपोलतल दर्पण के समान चमकीले और चिकने है, नाक बहुत ही सुन्दर है, दोनों बड़े बड़े कान चमकते रहते है और बाजु अजगर के शरीर के समान विशाल और मोटे हैं।[1]

1. आदर्शचिक्कणकपोलतलं सुनासं चञ्चद् बृहच्छ्रवयुगं स्वलिनीलकण्ठम् भोगोपम-प्रथित-सुन्दर-दीर्घ बाहुं।।
-त्रि. स्तो., श्लो. 1

भगवान् शिव के तीन नेत्र हैं, उन्होंने हाथी की ताजा चमड़ी को ही वस्त्र के रूप में पहना है, उनका स्वरूप भीतर से भी और बाहिर से भी बहुत अधिक रमणीय हैं, साँपों को उन्होंने यज्ञोपवीत के रूप में पहना हुआ है, वह गौरवर्ण वाले, प्रसन्न मुख वाले ओर अपने सिर पर जटाओं के समूहों के भीतर गङ्गा जी को धारण करने वाले हैं।

अन्य सिद्ध महापुरूष : हिमाचल की यात्रा प्रसङ्ग में ज्वर से अतिपीड़ित होने पर आचार्य ने स्वप्न सदृश तथा दिव्य रहस्य से पूर्ण एक दृश्य देखा, जिसमें इन्होंने तीन सिद्ध पुरूषों के दर्शन किये। उन तीन सिद्ध पुरूषों के अङ्गों का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि वे परम दिव्य शरीर को धारण करने वाले, कमल के समान विशाल आँखों वाले, लालिमा से अनुरञ्जित गौरवर्ण वाले, निर्मल तथा मन्द-मन्द मुस्कराहट से युक्त थे। वे न ही मोटे, पतले, ऊँचे और न ही बाम थे। उन्होंने हाथों में गांठो से रहित उत्तम बेंत की छड़िया धारण की हुई थी। उनके शरीर रेशमी अँगरखों से शोभायमान हो रहे थे और उनके पादयुगल सुन्दर जूतों से अलंकृत हो रहे थे। उनके निचले वस्त्र (धोतियाँ) चाँद की ज्योत्स्ना जैसे और ऊपर के वस्त्र (दुपट्टे) हँसों की कान्ति जैसे शोभा पा रहे थे। देदीप्यमान कान्ति से युक्त कुण्डल उन्होंने पहने थे और उनके मस्तक चमकते हुए मुकुटों से शोभा पा रहे थे। हाथों में हीरों की अँगूठियाँ तथा मोती और मूँगों के वलय धारण किए हुए थे। हिलते हुए भ्रमरों की श्रेणी जैसे उनके काले

बाल थे, माथे खुब विशाल थे, कान बहुत बड़े-बड़े थे, उनकी नासिकाएँ बड़ी ही सुन्दर थी, सुन्दर कपोल बन्धूक फूलों के समान लाल थे और फूलों की मालाएँ उन्होंने पहनी हुई थी। पूज्यपाद ने इसी दृश्य में इन तीन पुरूषों के अतिरिक्त तेजस्वियों में बड़े भारी महापुरूष के दर्शन भी किये। उनकी वेषभृषा एवं अङ्गों का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि उनके गले में रूद्राक्षमाला थी और माथा भस्म के त्रिपुण्ड्र से सुशोभित था गेरूए रङ्ग के पवित्र तथा जीर्ण ऊपरी वस्त्र और निचले वस्त्र को पहने हुए था। उनके पैरों में लकड़ी की खड़ावे थी। उनके दाएँ हाथ में कमण्डल तथा बाएँ हाथ में त्रिशुल था। उनका सिर भौरों की श्रेणियों क समान चमकते हुए काले और घुटनों तक खुले बालो से शोभायमान हो रहा था, और पीठ भी उन्हीं से ही अलंकृत हो रही थी। वह महापुरूष लम्बे बाजुओं वाला, हृष्ट पुष्ट शरीर वाला, पतली कमर वाला, मोटे और ऊँचे कन्धों वाला, विशाल वक्षःस्थल को धारण करने वाला, खुब गहरी नाभि वाला और तोतों के समूहों को सुशोभित बनाने वाली अर्थात् मध्य में उभरी हुई नाक वाला था। उसका रङ्ग अग्नि के समान कृष्ण पिङ्गल था, सूर्य के समान उनका अपना तेज देदीप्यमान था, उनका पतला शरीर खूब ऊँचा और तेजस्वी था और वह चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाला प्रतीत होता था। उनका सिर और उनकी टाँगें लम्बी थी, उनके हाथ तथा पैर कमलों जैसे थे, गणेश जी के समान उनके कान लाल रङ्ग के और विशाल आकृति के थे, उनका सिर तो छत्र पर हँसी हँस रहा था, उनका मुख लम्बा था और हीरों जैसे दाँतों की पंक्ति से युक्त था। वह महापुरूष लम्बे तथा घने काले केशों की मूछों वाला था और लम्बी तथा घनी दाढ़ी को धारण किए हुए था। खूब शोभायमान कपोलों वाला वही महापुरूष ललाट के बहाने से सुन्दर अर्धचन्द्र को भी धारण किए हुए था। वह सफेद (चारों ओर), काले (मध्य में) और लाल (कानों में) वर्णों से मानो कि अपने नेत्र में प्रयाग तीर्थ को धारण कर रहा था। जिस कमल पर

भौरा बैठा हुआ हो उसी के ही समान आँखों वाला वह महापुरूष दया से पसीजी हुई दृष्टि वाला था। जो निरन्तर भगवान् शिव के चरण कमलों का ध्यान करते रहते हैं। उनको यम के फंदे से कोई भय नहीं रहता। प्रत्युत् सब प्रकार के पापों आदि से मुक्त होकर वे शिवधाम के आनन्द का अनुभव करते है।

4. पूजा एवं स्तुति : आचार्य ने विविध देवी-देवताओं, सिद्ध महापुरूषों की अनेक स्तोत्र रचनाओं में स्तुति एवं पूजा प्रक्रिया का संकेत दिया है, जिससे मानवमात्र का कल्याण होता है। जो इस प्रकार है :

भगवती : "श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्" में पूज्यपाद ने भगवती माँ की बहुत ही स्तुति की हैं इनके अनुसार वाग्वादिनी बीज, कामबीज ओर शक्ति बीज से युक्त भगवती के मन्त्र का अद्वितीय प्रभाव है, उसके समान कोई दूसरा मन्त्र नहीं है, वहीं मूलविद्या है, अतः उसकी सर्वदा पूजा करनी चाहिए। प्रत्येक अष्टमी के महापर्व पर जो मानव जगदम्बा का अर्चन पूजन करते रहते हैं, उनके अज्ञान का नाश हो जाता है। जो व्यक्ति माता के चरण कमलों की जितेन्द्रिय होकर अराधना करता है उसे समस्त सिद्धिया अनायास प्राप्त हो जाती है, अर्थात् लक्ष्मी स्वयं उसके प्रति आकृष्ट हो जाती हैं।

"श्री देव्यास्तोत्रम्" में इन्होंने भगवती को श्री देवी के रूप में स्मरण किया है। वे उनको जगतजननी मानते है, जो सदा अपने भक्तों के दुःख क्लेशों को दूर करने और सुख-सम्पदा तथा मोक्ष लाभ करने में उद्यत रहती हैं। इन्होंने भगवती को शिव से अभिन्न बताया है। वह करूणामयी एवं दयामयी हैं। इन्होंने "बालाम्बास्तवः" में भगवती के बाल रूप की अति मनोरम ढंग से स्तुति की है। जिनका गुणगान करने से मुक्ति लाभ होता हैं।

पूज्यपाद ने "बालक मां पाहि" (देवी स्तोत्र) में देवी माँ की बहुत प्रशंसा की है। इनका कहना है कि माँ उनके त्रिविध दुःखों का अन्त

करके अनका वास्तविक कल्याण करे। क्योंकि वह सब प्रकार के पापों का नाश करने वाली है। इनका कहना है कि इनका उनको (माँ को) छोड़ करके न तो कोई भाई, बहन, पिता, मित्र और न ही कोई हित चाहने वाला है। जिस प्रकार चातक एकतान होकर बादल को चाहता है, उसी प्रकार आचार्य माँ को चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह हैं कि जिस प्रकार कोई प्रेम अपनी प्रेमिका को चाहता है और उसके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार पूज्यपाद माँ से प्रार्थना करते है कि वह उनके बिना नहीं रह सकते।

भगवान् शङ्कर : आचार्य का यह मानना है कि भगवान् शङ्कर की पूजा एवं आराधना अवश्य करनी चाहिए। "श्री सञ्जीवनीदर्शनम्" में कहा गया है कि विशेषकर उनके अर्थात् शिव के मृत्युञ्जय मन्त्र का अवश्यमेव जप करना चाहिए। इससे आयु बढ़ती है, पापों का नाश होता है, रोग दूर होते है और सद्गति की प्राप्ति होती है, जो भी मानव इसका जाप करता है वह सर्वदा के लिए उगते सूर्य के समान देखने में सुन्दर लगता है। त्रिशूलधारी अर्थात् शम्भू की दया ही उसका निरन्तर बल होता है और उसी बल से वह शीघ्र ही लोकों का रक्षक तथा स्वामी बन सकता है। इसी मन्त्र के प्रभाव से ही इनको एक बार मृत्यु तुल्य कष्ट से छुटकारा मिला था।

"श्री त्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम्" में इन्होंने भगवान् शिव की साकार (विश्वमय) एवं निराकार (विश्वोत्तीर्ण) दोनों रूपों की प्रशंसा की हैं। इनका मानना हैं कि वह प्रसन्न होने पर सज्जनों को लक्ष्मी, देवताओं को ऐश्वर्य, भक्तों को स्वर्ग एवं मोक्ष प्रधान करने वाले हैं। वह ही ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र के रूप में तीन गुणों के स्वामी बनते हुए अपनी लीला का अभिनय करते है।

"श्री परशिवाष्टकम" नाम के स्तोत्र में इन्होंने शिव-पार्वती की स्तुति करते हुए कहा है कि उनकी पूजा से स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर हो जाते

है। सभी वासनाओं का दलन हो जाता है। ये दुःखों का नाश तथा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाले हैं। दीनजनों और शरण में आए हुए की रक्षा करने वाले है। "आपूपिकेश्वरस्तोत्रम्" में आचार्य अमृतवाग्भव जी ने हलवाइयों के ईश्वर शिव की स्तुति करते हुए कहते है कि वे मथुरा द्वार के बाहिर बाजार में हलवाइयों के द्वारा निर्मित इस सुन्दर भवन में घी में बनाए हुए मजेदार मालपूड़ों का स्वाद लेते हुए हमेशा उन पर प्रसन्न होते रहे हैं। आचार्य ने यह भी कहा है कि वे सज्जनों के प्यार से आकृष्ट होकर इस भवन में कृपा करके निवास करें और अपनी सदैव दया से भरी रहने वाली दृष्टि से देख कर हलवाइयों को हमेशा सभी सुखों से समृद्ध बनाते रहे। अमृतवाग्भव जी उन लोगों को अपने इस अनुभव को बता रहे है कि इस "आपूपिकेश्वर" (शिव) स्तुति को पढ़ने वालों की सारी वस्तु कामना पूरी हो जाया करती है।

श्रीकृष्ण : इन्होंने "श्रीकृष्णगीतदशकम्" में श्रीकृष्ण की अति मनोरम ढंग से स्तुति की हैं। जिसका स्मरण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पूज्यपाद ने "महागुरू श्रीकृष्णस्तोत्रम्" में कहा हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वप्न दर्शन आदि के द्वारा इनकी समस्त शङ्काओं को दूर करते हुए उनके आध्यात्मिक साधना मार्ग को प्रशस्त करते रहे थे। इसलिए इस स्तोत्र में इन्होंने श्रीकृष्ण के बाल रूप एवं लीलाओं की स्तुति की है इस स्तुति में इन्होंने राधा कृष्ण के ब्याज से अपने माता पिता की भी स्तुति की है। श्री कृष्ण राधा और रूक्मिणी को प्रसन्न करने वाले तथा संसार रूपी रोग को हटा देने के लिये सर्वोत्तम वैद्यस्वरूप है। श्रीकृष्ण को हंस तुल्य मानकर अपने मानस सरोवर में विहार करने वाला माना हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण को गुरूराज अथवा महागुरूराज भी माना है तथा कहा हैं कि उनके द्वारा समय-समय पर दिखाए हुए रास्ते पर चलते हुए आंवले के एक फल की तरह पूरी तरह से देख लिया कि इसके सारे के सारे पदार्थ पर ब्रह्म रूपी अमृत के समुद्र से भरे हुए हैं।

"श्री बालकृष्ण दशकम" में आचार्य अमृतवाग्भव जी श्रीकृष्ण जी की स्तुति करते हुए कहते है कि उनके हृदय के देवता श्री बाल कृष्ण जी इस तरह शोभा को प्राप्त किये हुए है जिस तरह कि नये बादलों के मण्डल के समान मनोहर, सोने ने समान सुन्दर पीले वस्त्र से देदीप्यमान और ग्वालों की चतुर युवतियों के समूह के प्रियतम हो। यह मयूर के नए पंखों के शेखर से विभूषित, ताजा कमल-पत्र जैसे आँखों वाले एवं कस्तुरी के तिलक से चिह्नित माथे वाले है। अपनी मन्द-मन्द मुस्कराहट की सुमनोहर मधुरिमा के द्वारा इन्होंने अमृत के छींटों की वृष्टि को भी मात कर दिया है और मुनियों के मन, आँखों और कानों को भी आह्लादित कर दिया है। "श्रीबालकृष्ण दशकम्" नामक स्तोत्र में पूज्यपाद जी ने श्रीकृष्ण के बालरूप में प्रशंसा करते हुए कहा है कि यह बचपन में बहुत ही चंचल थे। अपनी मनोहर चतुराई के द्वारा यह बातें करके नंद बाबा के हृदय रूपी कमल को परवश कर लेते थे। माखन के लेप से इनका मुख देखने वालों को खुब अच्छा लगता था। यह घुंघराले केशपाशों से सुन्दर दिखाई देते थे। और इनके कानों के कुण्डल रत्नो की श्रेणियों से अलंकृत थे। अपनी मनोहर मुरली की गूंज से यह ब्रज गोकुल की युवती कुलस्त्रियों के हृदय मण्डलो में उथल-पूथल मचा देते थे। विरह से व्याकुल बनी हुई वृषभानु की कन्या राधिका के साथ ब्रज के कुंजों के भीतर प्रेमकला के विलास में लगे रहते हुए और हरी-हरी कोमल घास के चराने से गायों के समूहों को खूब पुष्ट बनाने वाले उनके हृदय के देवता बाल गोपाल कृष्ण खूब शोभा पाते थे।

इनका कहना है कि "श्री बालकृष्ण दशकम्" नामक शुभप्रद स्तुति का पाठ करते हुए जीव कल्याण को प्राप्त करते है।

श्री हनुमान् : "श्री पवननन्दनाष्टकम्" में इन्होंने श्री हनुमान् की स्तुति करते हुए कहा है कि वह दीनजनों की रक्षा करने वाले, सदैव भयभीत प्राणियो के भय्य को दूर करने वाले और पापों का निवारण करने में

भली-भान्ति सुशिक्षित है। दुःख पीड़ित जनों को जीवन देने वाले, शरणागतों की पालना करने वाले, पुण्यवानों को आसरा देने वाले, दुष्टबुद्धि वाले दुर्जनों का नाश करने वाले और दोनों के ऊपर दया करने वाले है। वायुपुत्र श्री हनुमान की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति होती हैं। संसार में उनकी बहुत ही कीर्ति है कि यह समस्त संकटों से छुटकारा दिलाने वाले हैं।

अवधुत : "श्री अवधुताभिवादनम्" स्तोत्र में आचार्य ने अवधूतों की प्रशंसा की है कि वे निन्दा एवं स्तुति में विश्वास नहीं करते। उन पर मृत्यु, अपमान एवं काम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अमृत को बरसाने वाले, महान तेज को धारण करने वाले और विशेष वेषभाषा आदि के प्रति अवहेलना का भाव रखने वाले होते है। अवधूतों की पदवियों पर पहुंचे हुए महापुरूषों के लिए कोई भी वस्तु अच्छी-बुरी नहीं होती। इसका अभिप्राय यह हैं कि सर्वत्र समदृष्टि से देखने वाले अवधूत प्रत्येक भले अथवा बुरे भाव में अपने स्वात्म परमेश्वर को ही देखा करते हैं।

सिद्ध दुर्वासा : श्रीविद्या के आदि गुरूओं में महर्षि अगस्त्य और लोपामुद्रा प्रसिद्ध हैं। उनके पश्चात् जिन गुरूओं की प्रसिद्धि हैं, वे है महर्षि दत्तात्रेय, भगवान् दर्वासा और परशुराम। दुर्वासा मुनीश्वर ने श्रीविद्या की उपासना के द्वारा जिस सिद्धान्त की साक्षात् अनुभूति की, परम्परा को चलाया, उसे पराद्वैत सिद्धान्त कहा जाता है। जिसके अनुसार एकमात्र अद्वैत रूप परमेश्वर ही जगत् की लीला का अभिनय करता हुआ द्वैत में, अद्वैत में बन्धन के प्रपञ्च में, मोक्ष के सोपानों में तथा गुरू और शिष्य आदि के रूप में स्वयंमेव प्रकट होता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ही दुर्वासा मुनीश्वर की स्तुति की गई हैं।

श्रीरामचन्द्र : आचार्य ने "श्री रामाश्वघाटीचतुष्टयम्" स्तोत्र में भगवान् श्रीराम की स्तुति करते हुए कहाहैं कि वे वीरों के अधिपति, अतीव उदार

विचारों वाले, धीर आकृति वाले, अपने चरणों की आराधना में लगे हुए भक्तजनों को सन्तुष्ट करने में संलग्न रहने वाले, भगवती उमा के पति के मन में साररूपता को प्राप्त होते हुए, हल की नोक से जन्मी हुई सीता के स्वामी और बादल के समान सांवले शरीर वाले है। वे स्तवन किये जाने पर विपत्तियों को दूर करने वाले और भव सागर से पार उतारने वाले हैं।

संसार में भगवान् श्रीराम का बहुत ही मान किया जाता है। यह सज्जनों को आराम देने वाले और उनका आदर करने वाले हैं। इनका अपार आश्रय लेने से लक्ष्मी और बुद्धि दोनों ही आ जाती हैं।

भगवान् श्री परशुराम : आचार्य का मानना है कि "श्री परशुराम" स्तोत्र का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से युद्ध, मुकद्दमा, संघर्ष आदि में सफलता मिलती हैं और विधर्मियों का नाश होता हैं। इस में बतलाया गया है कि श्रीपरशुराम भृगुकुल में उत्पन्न, महर्षि जमदग्नि के एवं भगवती रेणुका के पुत्र थे। श्री परशुराम के अतिरिक्त इस स्तोत्र में इन्होंने उनकी माता भगवती रेणुका देवी की भी स्तुति की है, उनको यह परशु भगवान् शङ्कर से प्राप्त हुआ था। पूज्यपाद ने "श्रीपरशुराम" की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उनके अग्रभग में उपनिषदों सहित समग्र वेद और उपवेद चमकते है, उनके पृष्ठदेश पर बाणों से भरा तूणीर और विशाल धनुष सुशोभित है। उन्होंने बाएँ हाथ में कुशमुष्टि और कमण्डलु तथा दाएँ हाथ में परशु धारण किया हुआ है, शाप देना तथा शस्त्र चलाना इन दोनों कार्यों में वे दक्षहस्त हैं। धर्मोद्धार में धुरन्धर, दीन लोगों की पालना करने वाले, उन्मत्त क्षत्रियों के काटे हुए गलो से बहने वाले रूधिर के प्रवाह में डुबाए हुए, भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने में सहायक, कठोर परशु को धारण कर एवं अवतीर्ण होकर, उन्मत्त उजड्ड दृष्टवासना वाले दुष्टों का वे दमन करने वाले है। श्रीपरशुराम सम्पूर्ण मुनियों में श्रेष्ठ है, सहस्रों बह्मर्षि उनके चरण-कमलों को चूमते है, यह विप्रकुल में अतिप्रसिद्ध है। उनका

चरित्र बहुत उदार है, पृथ्वी के दुष्ट अभिमानी शासकों का नाश करके उन्होंने सम्पूर्ण विश्व का सब ओर से संरक्षण किया। श्री परशुराम ने तीनों लोकों में अनुपम पराक्रम के एकमात्र अधिष्ठान कृतवीर पुत्र अर्जुन के सिर को काट कर अपने पितरों को तृप्त करने के निमित्त सम्पूर्ण पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया। उन्होंने अन्यायी दुष्ट राजाओं के काटे हुए सिरों के पहाड़ों से निकलने वाली रक्त की गंगा के जलप्रवाह से कण्ठपर्यन्त अपने पितरों को तृप्त करने के पश्चात् धन से भरी सम्पूर्ण पृथ्वी का कश्यप महर्षि को दान दे दिया। उनको देखकर महाप्रतापी राजा दशरथ भी स्त्रीवेष बनाकर छिप गए थे। इसी प्रकार बहुबलशाली देवराज इन्द्र ने भी इनसे डरते हुए एवं इनका सम्मान करते हुए इनको अपने आधे आसन पर बिठाया था। आचार्य का दृढ़ विश्वास है कि जमदग्नि के शूरवीर एवं विद्वान पुत्र परशुराम का यह अद्वितीय स्तोत्र का एकाग्रचित्त से पठन करने मात्र से धर्म को जगाने एवं दुष्टओं को नष्ट करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन्होंने विश्व कल्याण की भावना से अन्त में भगवान् परशुराम से मंगल कामना की है कि भगवान् परशुराम शारणगत् जनों पर अनुग्रह दृष्टि करके इनका सर्वतः कल्याण करे और इन्हें ऐसी शक्ति दे जिससे यह दुष्ट आततायी एवं अनाचारियों की अनीति, अन्याय एवं दुराचार का मुकाबला करने में समर्थ हो जाए। आज भी लोग श्रीराम और श्री कृष्णरूपी भगवान् श्री विष्णु के अवतारों के साथ श्री परशुराम को अपना आराध्यदेव बना कर उनकी पूजा अर्चना करते हैं और श्री परशुराम स्तोत्र का नित्य पाठ करते हुए अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था को सुनिश्चित बनाते है।

गरूतत्त्व : पूज्यपाद गुरू शक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गुरू की कृपा दृष्टि करूणा रस से आर्द्र होती हैं। गुरू कला ही स्वात्म स्वरूप (आत्मा, शिव) की प्रतिभा प्रदान करने वाली हैं। इसलिए सद्गुरू शिव रूप ही होता हैं। स्वात्मा ही शिव रूप होने से परमार्थ तत्त्व एवं गुरूतत्त्व हैं। शिवरूप गुरू के अनुग्रह का पात्र शिष्य भी सर्वोत्कृष्ट

२

होता है।

आचार्य क अनुसार संवित्-देवी (आत्मा, परमात्मा) सकल व्यवहार की आधार भूता है। स्वात्म रूप पारमेश्वरी ललिता-अम्बा अमृतशक्ति, ललितकला एवं सुखकला रूप हैं, यह समस्त विश्व में व्याप्त माधुर्य (रमणीयता) एवं सभी जीवों की निर्माण शक्ति (कवित्व आदि) की आधार शक्ति है, इन्होंने अपने माता-पिता की राधा कृष्ण के रूप में स्तुति की है, जोकि इनके श्रीविद्या मन्त्र के गुरू थे। इसी प्रकार सिद्ध दुर्वासा को भी इन्होंने गुरू रूप में स्मरण किया है, जिनसे इनको काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों का साक्षात्कार हुआ।

नीति : आचार्य की कृतियों में नीति-विषयक शिक्षायें भी मिलती है, जिनमें सामाजिक कुरीतियों एवं बुराईयों को दूर करने तथा सदाचार का उपदेश दिया है। इनका कहना है कि दीक्षित सत् शिष्य की सामर्थ्य सत् गुरू की ही भान्ति अद्वितीय होती है। कपटपूर्वक यश इत्यादि अर्जित करने पर भी कोई पारमार्थिक लाभ नहीं होता।

साधारण जन को उपदेश देते हुए कहा गया है कि अपने हृदय से काम इत्यादि छः शत्रुओं को निकाल देना चाहिए और शान्त मन से पाप पुण्य का सम्यक् विचार करना चाहिए। संसार के समस्त विषय क्षण भङ्गुर हैं। अतः इनसे कभी भी शाश्वत् सुख नहीं मिल सकता। जिस प्रकार से रति इत्यादि स्थायी भाव ही श्रृङ्गार रस रूपता को प्राप्त होते है, व्याभिचरी नहीं। उसी प्रकार से साधारण (नपुंसक) पुरूष का मैत्री और विरोध सफल नहीं होता। प्रत्युत् सज्जन पुरूष स्थायी रस की तरह स्थिर होता है।

भगवान्-भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि सन्मार्ग की बाधक होने से कुटलता का सर्वथा त्याग करना चाहिए। परमात्मा की भक्ति से ही यमपाश एवं भव बन्धन छूट सकता है, कोरी विद्वत्ता से नहीं। सर्वत्र व्यापक यश भी भव बन्धन का फंदा नही काट सकता। जैसे

बिना नाव के समुद्र को पार नहीं किया जा सकता। इसलिये गुरू की भक्ति ही इसमें समर्थ है।

साधक का ऐसा चित्त प्रसंशनीय है, जो स्वात्म महाश्वेश्वर साक्षात्-कृत गुरू की ज्ञान और क्रिया शक्तियों के पान में मग्न रहता है। संसारिक विषयों में रमन करने वाला चित्त भवबन्धन में ही फँसाने के कारण निन्दित है, काम, क्रोध आदि से ग्रस्त प्राणियों के लिये परमेश्वर की प्राप्ति दुलर्भ होती हैं, परन्तु वही सत् गुरू की शरण में जाने से उनकी कृपा दृष्टि से अति सुलभ हो जाती है।

राग (अशक्ति) से युक्त प्राणी (जीव) "यह कल्याणमय है।" "यह अकल्याणमय है" ऐसा निर्णय कर पाने में समर्थ नहीं होते हैं, परन्तु सद्गुरू मित्र की शरण में जाने से विवेक बुद्धि पैदा होती है। जिससे यह आसानी से जाना जा सकता है।

3. राजनीति विषयक

प्रत्येक राष्ट्र का मुखिया राधा अथवा राष्ट्रपति कहलाता है। मनु के अनुसार इसके बिना राज्य में अनाचार एवं अव्यवस्था फैल जाती है। बलवान लोग निर्भलों को तंग करते हैं। इसलिए प्रजा के सर्वतोमुखी विकास एवं दुष्टों के नियन्त्रण के लिए इसका होना आवश्यक है। परन्तु यदि राज्य का प्रमुख अथवा उसके सहायक (मन्त्री एवं कर्मचारी इत्यादि) ईमानदार, कर्मठ और न्यायशील नहीं हो, तो भी प्रजा का हित नहीं हो सकता। इसलिए प्रजातन्त्र में तो इसकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है, जहाँ लोग स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनकर शासन के लिये भेजते हैं। अमृतवाग्भव आचार्य ने इन सब तथ्यों को मध्य नज़र रखते हुए "राष्ट्रलोक:" आदि में इन पर सम्यक् प्रकाश डाला है।

अनुबन्धचतुष्ट्य : जिस प्रकार न्याय शास्त्र को समझने के लिये न्यायाचार्यों ने प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमितिरूप अनुबन्धचतुष्ट्य की कल्पना की है अथवा वेदशास्त्र में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजनरूप अनुबन्धचतुष्ट्य को अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है, उसी प्रकार आचार्य ने राजनीति राष्ट्र, राष्ट्रीय, राष्ट्रदृष्टि और स्वतन्त्रतारूप सम्बन्धी अनुबन्धचतुष्ट्य की आवश्यकता बताई है।

राष्ट्र : आचार्य ने कहा है कि समान संस्कृति वाले लोगों की जितनी पितृपुण्यभूमि होती है, उतनी भूमि को घेर कर एक "राष्ट्र" कहा जाता है।

राष्ट्रीय : जो लोग जिस राष्ट्र को सभी प्रकार से पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, वह राष्ट्र उन लोगों का सभी प्रकार से अपना होता है। जिस पुरूष के जिस राष्ट्र में पितृभूत्व और पूण्यभूत्व दोनों नहीं होते, उस पुरूष का उस राष्ट्र में अपनापन नहीं होता। इन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति ऐसा मानते है कि अपने राष्ट्र में रहते हुए भी अराष्ट्रीय हमें वृत्ति दे रहे हैं, वह मूढ़ हैं, पण्डित नहीं। जो मानव अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने की इच्छा नहीं करते, इस भूमि की पीठ पर उनसे अधिक महान् मूर्ख कौनहो सकते है ? अर्थात वही लोग सबसे ज्यादा मूर्ख हैं। पूज्यपाद का कहना है कि शान्तिभंग के डर से जो थोड़ी बुद्धि वाले मानव राष्ट्र

में अराष्ट्रीयों की हुई क्रान्ति को सहते हैं, वे निश्चय से राष्ट्रद्रोही हैं। जो लोग अपने राष्ट्र में रहते हुए भी अराष्ट्रीयों की सेवा करते हैं, उनका मुख देखकर मानव अवश्यमेव रौरव नरक में जाता है। अराष्ट्रीयों से प्रार्थित जीवन जीवन नही है। उस जीवन को धिक्कार है। उसका आकार ही केवल भिन्न है, वैसे तो वह विष्ठा और मूत्र का ही भक्षण है।

इन्होंने कहा है कि पूर्व जन्म के थोड़े पुण्य के प्रभाव से स्वतन्त्र राष्ट्रीयों के कुल में जन्म होता है। इसमें कोई संशय नहीं है। यदि परतन्त्रराष्ट्रीयों के कुल में उत्पन्न मानव आततायियों को दण्ड देने वाले हों तो वे और भी अधिक श्रेष्ठ हैं।

राष्ट्रदृष्टि : किसी राष्ट्र का मंगल करने वाली एवं उसे अपना समझने वाली दृष्टि को राष्ट्रदृष्टि कहा जाता है।

स्वतन्त्रता : यदि स्वराष्ट्र स्वतन्त्र हो तभी चारों पुरूषार्थों का साधन तथा चारों पुरूषार्थों को देने वाला होता है, अन्यथा (परतन्त्र होने पर) वह मंगल देने वाला नहीं होता, प्रत्युत् अमंगल देने वाला ही होता है। आचार्य का कहना है कि परराष्ट्र का सम्बन्ध, सेना और कोष सब प्रकार से जिस राष्ट्र में राष्ट्रीयों के हाथ में होता है, वह राष्ट्र स्वतन्त्र है। जिन राष्ट्रों में ये तीनों वस्तुएँ स्वतन्त्र होती हैं, वे ही राष्ट्र राष्ट्रों की गणना में आते हैं और महान् यश को अपनी ओर खींचते हैं।

राष्ट्र की शक्तियाँ : पूज्यपाद का कहना है कि राष्ट्र की तीन शक्तियाँ है। राष्ट्रकाली (शक्ति बल), राष्ट्रलक्ष्मी (धन), राष्ट्र सरस्वती (विद्या, ज्ञान)। यह तीनों शक्तियाँ भोग और मोक्ष देने वाली है, हमें इनकी सेवा करनी चाहिए।

राष्ट्रनेता का कर्त्तव्य : राष्ट्रनेता को राष्ट्रभाषा और धर्मग्रन्थों का विशेष रूप से सम्यक् अभ्यास करना चाहिये। अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्ष शास्त्रों का तात्त्विक दृष्टि से अच्छी प्रकार से अभ्यास करना चाहिये।

राष्ट्रपतन के कारण : आचार्य कहते हैं कि जिस राष्ट्र में राष्ट्रघाती चण्डाल जीवित रहते हैं, वह राष्ट्र अराष्ट्रीयों के हाथों से आक्रान्त हो जाता है। जो लोग राष्ट्र के लिए मरना नहीं जानते, वे परतन्त्रता की बेड़ी को सुदृढ़ करने वाले अपने ही शत्रु हैं। जो मानव अपने कल्याण के लिए राष्ट्र की उपेक्षा करता है, भूख को मिटाने के लिये निश्चय से वह विष चाहते हैं कि हमारा मंगल हो, वे पुरूष समुद्र के पार जाने की इच्छा रखकर पोत अर्थात् समुद्री जहाज़ को तोड़ डालने वालों के समान नष्ट हो जाते हैं। इन्होंने यह भी कहा है कि जो वस्तु जिस राष्ट्र में उत्पन्न हो सकती है, वही वस्तु दूसरे राष्ट्र से यदि आती हो, तो वह राष्ट्र आलसी होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र की उन्नति के साधन : राष्ट्र की उन्नति की इच्छा रखने वाले

पुरूष प्रत्येक गाँव में राष्ट्रज्ञान का प्रचार करने वाली सुन्दर परिषदों का निर्माण करें। जिस राष्ट्र में वहां के पुरूष और स्त्रियाँ दोनों ही राष्ट्रज्ञान में विचक्षण होते हैं, उस राष्ट्र पर अराष्ट्रीय लोग शासन नहीं कर सकते। राष्ट्र की उन्नति करने वाले राष्ट्रीय गाँव-गाँव में राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा के पुस्तकालयों की योजना करें। गाँव-गाँव में सुन्दर वाचनालय बनाएँ, राष्ट्र के पोषक समाचारपत्र और सुविचारपत्र आदि पत्रों का प्रसार भी करें। नये-नये वाङ्मय (साहित्य) का निर्माण करें, वह वाङ्मय सर्वदा राष्ट्रपोषक हो, राष्ट्रभाषा में हो और धर्म्यभाषामय हो।

पर्वमाहात्म्य के विद्वान पुरूष उन-उन पर्वों में पर्व के सम्पूर्ण इतिहास को अपने राष्ट्रीय को सुनाएँ। राष्ट्र का हित चाहने वाले मानव किसानों को, पनिहारियों को और ग्वालों को भी प्रयत्न से राष्ट्र के ज्ञान में निपुण करें।

राष्ट्र का कल्याण चाहने वाले नीतिकोविद राष्ट्रीय प्रयत्न से राष्ट्र के भोकता अराष्ट्रीयों को निकाल दे। इसका तात्पर्य यह है कि जब आचार्य ने यह कृति लिखी तब भारत अंग्रेजों के अधीन था और वो लोग भारत की सम्पदा एवं उत्पत्ति स्रोतों का शोषण कर रहे थे। आचार्य की धारणा के अनुसार किसी राष्ट्र की सम्पत्ति का उपयोग उसके राष्ट्रीयों के द्वारा ही होना चाहिए। इसलिये वह प्रबुद्ध जनों में भी जागृति लाने के लिये कहते

है कि उन्हें अपने महत्वपूर्ण योगदान से अराष्ट्रीयों (अंग्रेज़ों) को अपने राष्ट्र (भारत) से निकाल बाहर उखाड़ फैंकने का प्रयत्न करना चाहिए।

राष्ट्र शिक्षा का महत्त्व : पूज्यपाद का कहना है कि राष्ट्र का उत्थान और पतन राष्ट्रीयों के ऊपर ही अवलम्बित है। इसलिये राष्ट्रीय सर्वदा शिक्षा सम्पन्न होने चाहिए। अपनी अचछी प्रकार की उन्नति चाहने वाला मानव स्वराष्ट्र शिक्षा ग्रहण करे। इस स्वराष्ट्रशिक्षा से दूरदृष्टि होकर उसे कभी भी कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। जो लोग राष्ट्रीयज्ञान सम्पन्न मनुष्यों का सहारा लेकर के कार्यों को अच्छी प्रकार करते हैं, उनका दुःख अवश्य ही नष्ट हो जाता है, राष्ट्रीयज्ञान से हीन और राष्ट्रीयों के साथ द्वेष करने वालों को गढ़े में गिरना छोड़कर और कुछ भी लाभ नहीं होता। अर्थात् ऐसे लोगों से हमें दूर ही रहना चाहिए। अधिक से अधिक सुखभोग एवं स्वातन्त्र्य को देने वाले राष्ट्र का जो मानव सम्मान करता है, वह महान् कीर्तिशाली पुरूष सम्पूर्ण सम्पदाओं के निधानों को प्राप्त करता है। जिस राष्ट्र में राष्ट्रीयज्ञान के शिक्षक विद्यमान नहीं हैं, वह राष्ट्र निर्विष साँप के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति पूर्णतया राष्ट्र की शिक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, तो वह इस लोक में और उस लोक (परलोक) में भी सौभाग्य प्राप्त करता है।

भाषाएँ : आचार्य का कहना है कि सभी मनुष्य अपनी भाषा (मातृभाषा)

को सबसे पहले सीखे, तदनन्तर राष्ट्रभाषा का अभ्यास करे। उसके पश्चात् धर्म्यग्रन्थभाषा का और राष्ट्र को पोषण करने वाली अन्यान्य भाषाओं का अभ्यास करें। इन भाषाओं के अभ्यास में भी राष्ट्रभाषा का अध्ययन अत्यावश्यक है।

राष्ट्रबालक : राष्ट्र के सम्पूर्ण बालकों को उनके ब्रह्मचर्य का पूर्ण संरक्षण करते हुए प्रयत्न से रणनीति में चतुर बनाया जाए। राष्ट्र का कल्याण करने की अच्छा करने वाले नेता लोग राष्ट्रबालकों को तीन शक्तियों से सम्पन्न, समदर्शी, नीति में विशेष चतुर, शान्त, नम्र, अपना खून देकर भी राष्ट्र का पोषण करने वाले, राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा में कुशल एवं अर्थकोविद बनाये।

राष्ट्रकोष : आचार्य महोदय ने कहा है कि राष्ट्र की समृद्धि, प्रजापोषण, कल्याणकारी कार्य, शत्रुओं से बचाव एवं अपने तथा अपने पर आश्रित (सेवक, सेना इत्यादि) जनों के लिए शासक को धन की ज़रूरत पड़ती है। मनुस्मृति के अनुसार तो धन अथवा कोष को राजा एवं प्रजा का मूल (जड़) कहा गया है। इसलिये शासकों को चाहिए कि वह राष्ट्रकोष का निर्माण करें। उसके लिए वह राष्ट्रीयों से उनकी वार्षिक आय का दशमांश ग्रहण करें।

न्यायाधीश : इन्होंने कहा है कि राष्ट्रीय पुरूष अराष्ट्रीयों को न्यायाधीश कभी न बनायें क्योंकि राष्ट्र में उनका ममत्व न होने के कारण वे धन

का अपहरण करने वाले होते हैं।

राष्ट्रपरिषद् की स्थापना : राष्ट्रीय लोक बड़ी राष्ट्र परिषद स्थापित करें और उस परिषद् में सम्यक् सभासदों की नियुक्ति करे। वह राष्ट्रपरिषद् समुचित वृत्ति देकर राष्ट्रकार्यों को करायें। यह निश्चित है कि समुचित वृत्ति गौरव स्थापित करके कार्यों के करने में अच्छी प्रकार राष्ट्रीयों को समाहित करती हैं।

राष्ट्रपति : राष्ट्रपति उपाधि का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि जो मातृ भूमि का तन-मन से सेवक है, पालक है, रक्षक है, पुत्र की तरह प्रेम रखता है, वही राष्ट्रपति कहलाने का अधिकारी है। जो केवल इसका उपभोग करता है और प्रजा का ध्यान नहीं रखता, वह कदापि इसके योग्य नहीं।

सांसद एवं नेता : पूज्यपाद संसद सदस्यों के प्रति कहते हैं कि जो धर्मवृद्ध कहने के योग्य है, न कि अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए केवल अनैतिक बात कहने वाले वयवृद्ध हैं।

वर्तमान संसद सदस्यों पर कटाक्ष करते हुए आचार्य कहते है कि अनीतिपूर्वक (छल से, कपट से, बल से) अपना चयन करवा लेते हैं और फिर अपने आप को माननीय सदस्य कहलवाने लगते हैं, परन्तु इस उपाधि को धारण करके वे कोई नैतिक काम नहीं करते, अपितु अनैतिक काम से पेट-पूजा

करते है। अपनी ओर से लोग कल्याण करने का प्रचार करते हैं। लेकिन वास्तव में उनका अहित ही करते हैं।

वर्तमान काल के तथाकथित नेता जनता के धन का अपनी मनमर्ज़ी से दुरुपयोग करते हैं। जबकि चुने जाने के समय वह राष्ट्र की एकदम खुशहाल करने की बात कहते हैं। इनका व्यापार लगभग कपटी बिलाव जैसा ही है। जो अवसर मिलते ही चूहे को जकड़ लेता है।

अंग्रेज़ों के गौरवर्ण की तरह एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा में पले सफेद कपड़े (खादी) पहने अन्दर से काले दिल वाले हमारे तथाकथित ढोंगी सौम्य आकृति बनाये हुए भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार करने का प्रदर्शन करते हैं परन्तु वास्तव में कोयल की तरह दूसरों से अपना पोषण करवाते हुए भारतीय संस्कृति का एवं जनता का अहित ही करते हैं।

खादी पहने हुए परन्तु दिल में कपट भाव लिए हुए अपना अथवा अपने सम्बन्धियों का स्वार्थ साधन करते हुए देश सेवा का ढोंग बहुत प्रकार से करते हैं। परन्तु वास्तव में राष्ट्र का अकल्याण ही करते हैं।

राष्ट्रीय शासक एवं सुख : आचार्य का कहना है कि अगर शासक राष्ट्रीय हो, तो निर्धन भी सुख प्राप्त कर सकता है, यह निश्चय है। परन्तु अराष्ट्रीय के शासक होने पर धनी भी सौख्य प्राप्त नहीं कर सकता। परतन्त्र राष्ट्र में रहते हुए भी जो घर-गृहस्थी के सुखों की इच्छा रखते हैं

और अपने आप को पण्डित समझते हैं, वे निश्चय से रौरव नरक में जाते हैं।

राष्ट्र एवं दुर्भाग्य : जिन लोगों में राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि अथवा भावना नहीं होती है, वे ही निर्धनता एवं रोगों आदि से ग्रस्त होकर दुर्भाग्य को प्राप्त होते हैं। ऐसे दुर्भाग्यशाली लोगों से युक्त राष्ट्र दुर्भाग्य को प्राप्त होता है।

राष्ट्र एवं अपमान : उस राष्ट्र का लोक अपमान करते हैं, जिस राष्ट्र का कुपित होना अथवा प्रसन्न होना निरर्थक होता है। जैसे नपुंसक पति का स्त्रियाँ अपमान करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अगर किसी राष्ट्र की सैनिकशक्ति, अर्थदशा एवं लोगों की राष्ट्रीय भावना सुदृढ़ नहीं है, तो उसका यदि कोई दूसरा राष्ट्र अनिष्ट करे तो वह उसको भयभीत नहीं कर सकता और इसी प्रकार यदि कोई कमज़ोर राष्ट्र है, तो वह किसी दूसरे राष्ट्र की विपत्ति में उनकी सहायता नहीं कर सकता। अतएव ऐसा राष्ट्र नपुंसक की तरह अपमानित होने योग्य ही होता है।

जो लोग अपने आचार-व्यवहार सुधारे बिना वेद-शास्त्र के पठन-पाठन अथवा स्मरण का ढोंग रचते हैं, तो वह एक तरह से उन पवित्र शास्त्रों का अपमानहीं करते हैं। अत: ऐसे पुरूषों की संगति नहीं करनी चाहिए।

राष्ट्र एवं आर्य : आचार्य का कहना है कि बुद्धिमान लोग उन्हीं को

आर्य कहते है, जो निर्लोभ और समदर्शों मानव निग्रह तथा अनुग्रह से विश्व की सम्यक् उन्नति करते है। जो मनुष्य दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करते है, वह निश्चय ही नरराक्षस है, उनकी बुद्धि लोभ से विनष्ट है। आर्य पुरूष उनको अत्यन्त निन्द्य मानते है। श्ववृत्ति से जीवन, राष्ट्र का द्रोह और राष्ट्रीयों का नेतृत्व न होना अथवा अराष्ट्रीय का नेतृत्व स्वीकार करना आर्यों को इन तीनों बातों का त्याग करना चाहिए। क्योंकि इन तीनों बातों की अनार्य ही सेवा करते है।

आचार्य महोदय ने कहा है कि राष्ट्रवादी ही आर्य है। आर्य ही शान्ति की स्थापना कर सकते है। "राष्ट्र हमारा पिता है, माता है और आचार्य है।" "भारत भारतीयों का है।" स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम हमेशा के लिये उसके सेवक है, हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष दोनों देता है। हम सच्चे राष्ट्रीय है, अभारतीय भारत के अतिथि हो सकते है, राष्ट्रीय नहीं। हम सदा संक्रान्ति का आदर करते है। हमें ऐसी शान्ति नही चाहिए, जो राष्ट्र को परतन्त्र बनाये। राष्ट्रीय राष्ट्र के पुत्र होते है, पति नहीं। भारतीय अपने को हिन्दू मानने में गौरव का अनुभव करते है, भारतीय आदर्श के विपरीत क्रान्ति किंक्रान्ति है, संक्रान्ति नहीं।

क्रान्ति : आचार्य के अनुसार क्रान्ति दो प्रकार की है :-

1. संक्रान्ति (श्रेष्ठ क्रान्ति), 2. किंक्रान्ति (दुष्ट क्रान्ति)

संक्रान्ति : यह क्रान्ति शान्ति देने वाली है। यही क्रान्ति आततायियों को दण्ड देने वाली एवं दोनों लोकों में कल्याण प्राप्त कराने वाली है। इनका कहना है कि संक्रान्ति जैसा सर्वत: प्रशस्त कर्म स्वातन्त्र्य प्रिय आर्यों का स्वाभाविक पवित्रतम कर्तव्य है। आचार्य ने इसमें संसार की उन्नति, राष्ट्र की उन्नति तथा वैयक्तिक उन्नति के इच्छुक राष्ट्रनीतिज्ञों के लिए पर्याप्त उपदेश दिये हैं, जिससे संसार के कल्याण के लिए संक्रान्ति को प्रेरणा मिलती है। कुछ रहस्यज्ञाता आचार्य अपने पद से सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर उसे अपने वश में रखकर "भवानी कामकला को ही क्रान्ति" शब्द का वास्तविक अर्थ समझते है और उसे ही क्रान्ति मानते हैं। सज्जनों पर कृपा और दुष्टों के नियमन के ब्याज से संसार का कल्याण करती हुई, संसार के क्रम, विक्रम और अक्रम को धारण करने वाली, कल्याणमयी, धर्मस्वरूपिणी, आनन्दसुधावर्षिणी, शिवमहासत्ता चैतन्यसमुद्र, उदारबुद्धिवाली, आर्या, परा—भैरवी क्रान्तिदेवी हमेशा विजयशील है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवती कामकला अथवा पराभैरवी अपने स्वभाव के अनुसार सदैव लोक कल्याण में तत्पर रहती है। दूसरी ओर संक्रान्ति भी लोगों द्वारा शुभलक्ष्य की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला संघर्ष होता है। अत: संक्रान्ति का लक्ष्य भी लोक कल्याण ही होता है। आचार्य मानते हैं कि भगवती पराशक्ति ही लोगों के हृदयों में निवास करके मानो लोक कल्याण के लिये स्फुर्ति, प्रेरणा अथवा शक्ति देती है। अतएव भगवती ही संक्रान्ति है।

कारण के गुणों से कार्य के गुणों का प्रारम्भ होता है, इस नियम से यह सम्पूर्ण संसार, जिसका मूल क्रान्ति है, क्रान्ति है, क्रान्तिप्रिय है। अतः परमाणु से लेकर के परम महत् एक सर्वत्र क्रान्ति का ही साम्राज्य है। संक्रान्ति शब्द सं+क्रान्ति से बना है। क्रान्ति का अर्थ है किसी परिवर्तन की इच्छा से हलचल का प्रादुर्भाव। क्रान्ति के साथ जो "सं" का संयोग है, वह सम्यक् अथवा आर्यप्रतिपादित का बोधक हैं। अतः संक्रान्ति का अर्थ है वैद्य अथवा आर्यानुमोदित क्रान्ति। स्पन्दनहीन जीवन असम्भव है, इसे मानने से किसी भी बुद्धिमान को आपत्ति नहीं हो सकती हैं। किन्तु वह स्पन्दन अर्थात् हलचल यदि सम्यक् अथवा आर्यानुमोदित न हो तो सन्मार्ग पर अग्रसर करने वाली नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट ही है कि विश्व आज क्रान्ति-क्रान्ति का चीत्कार कर रहा है, किन्तु उसे समझना चाहिए कि राष्ट्रहित केवल क्रान्ति के द्वारा नहीं, अपितु संक्रान्ति के द्वारा ही साध्य हो सकता है। संक्रान्ति देवी ही समस्त भुवनों की मूलाधार है। यही सर्वभूतहितकारिणी है। संक्रान्ति के बिना मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए ही आचार्य ने विद्वानों से यह कहा है कि सदैव क्रान्ति का नहीं संक्रान्तिरूपिणी भगवती भवानी का ही भजन करना चाहिए। संक्रान्ति ही वीरवृन्दवन्दनीय जागृति की जननी है। जब चारों ओर संसार में अन्यायप्रसार होता है, तभी आर्यहृदय-स्थित माँ संक्रान्ति उस प्रसारित अन्याय को समूल नष्ट करने के कारण समाज के नेताओं एवं समाज के हृदय में,

प्राणों में एक प्रचण्ड शक्ति का प्रादुर्भाव करती हुई जागृति को जन्म देती है और उसी संक्रान्तिजा जागृति के द्वारा उस अन्याय का अन्त होकर न्याय की व्यवस्था होती है, ऐसा जानकर करके ही संक्रान्तिरूपिणी भगवती भवानी का स्मरण करना चाहिए।

आचार्य महोदय का कहना है कि इसी विश्ववन्द्या माँ संक्रान्ति की प्रेरणा से वीर लोग युद्ध यज्ञ में प्राणों की आहुति प्रदान कर देवत्व प्राप्त कर लेते हैं। वीर लोग संग्राम करके अमित तेजस्वी और यशस्वी हो सूर्य की भाँति चमकते हैं। वीर पुरूष संसार की रक्षा के लिए हमेशा स्वेच्छा से तैयार रहते हैं। संक्रान्ति ही इन सबों की कामनाओं को करने के हेतु कल्पलता है। संसार में केवल यही (संक्रान्ति) सब प्रकार की कलियुग की बुराईयों को नष्ट करने में समर्थ है। अतः सत्पुरूष में श्रेष्ठ विमर्श, प्रज्ञान में तीव्रबुद्धि, शुभ कल्याणकारी-नीति के पुनः-पुनः प्रचारार्थ भगवती संक्रान्ति का ही सहारा लेते हैं। पूज्यपाद का कहना है कि तभी राष्ट्र का कल्याण सम्भव है, जबकि सभी स्वातंत्र्यप्रिय सहृदय महानुभाव इस उमारूपिणी संक्रान्ति देवी की ही शरण में जायें। अर्थात् वैद्य अथवा आर्यानुमोदित सत् संघर्ष का अनुसरण करें। क्योंकि संसार में शान्ति-स्थापन करने के हेतु सहृदय तथा सद्बुद्धि वाले लोगों द्वारा सम्मानित और दुर्बुद्धियों को दुष्प्राप्य आर्यप्रिय स्वातन्त्र्य केवल संक्रान्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यही भगवती संक्रान्ति समस्त भवभयों का शमन करने में समर्थ है। विश्व में सभी

कामनाओं की पूर्ति और सर्व सम्पदाओं की रक्षा भी इसी के द्वारा ही हो सकती है। मानव हृदयाकाश में इसके उदित होते ही सम्पूर्ण भय इस प्रकार तिरोहित हो जाते हैं, जिस प्रकार की भगवान् भुवनभास्कर के उदय होते ही गहनतम अन्धकार पल मात्र भी नही ठहर पाता।

यह संक्रान्ति अतिगूढ़रूप से सदैव विश्ववन्द्य आर्यों की हृदय-गुहा में छुपी रहती हैं। इसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं। यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और अति निर्मला हैं। "क्रान्ति" समल हो सकता है, किन्तु संक्रान्ति में तो मलिनता का आभास हो ही नहीं सकता। क्योंकि इसका निवास ही ऐसे परम पवित्र थल में हैं कि यहाँ किसी भी प्रकार का मालिन्य असम्भव है। अतः संक्रान्ति परशिवरूपिणी हैं। इस संक्रान्ति भवानी ने ही सृष्टि के आरम्भ में अपने आपको यज्ञ रूप से प्रकट किया। यज्ञ का अर्थ है- "आवश्यक वस्तु को यथास्थान यथोचित रूप से पहुँचाना" इस प्रकार के समस्त कर्म यज्ञ हैं। जिस वस्तु की यहाँ आवश्यकता नहीं उसका वहाँ पहुँचना ही यज्ञ का नाश हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि "उचित कर्म ही सच्चा यज्ञ है।" यही संक्रान्ति का आदिरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी यज्ञरूपिणी संक्रान्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यज्ञरूप में प्रकट होती हुई भगवती संक्रान्ति ही विश्व के कल्याण के लिये कामधेनु और सुर नरों में ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी आत्मभूत है। यह निर्विवाद है कि बुद्धि, लक्ष्मी और स्त्री सदैव उसी के अधिकर में रह सकती है,

जिसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। वह स्वतन्त्रता हमें अपने स्वतन्त्र राष्ट्र में ही प्राप्त हो सकती है। इसका प्रथम कारण यह है कि जिस वस्तु को पराया समझा जाता है, उसमें यथार्थ ममत्व ही नहीं हो सकता और यदि येन-केन-प्रकारेण ममत्व हुआ तो उसमें वह आत्मीयता का भाव नहीं आता, जो वास्तव में अपने के हित उदित होता है। स्वराष्ट्र के साथ आत्मीयता उत्पन्न करने के कारण प्रथम स्वातन्त्र्य अति आवश्यकीय है। क्योंकि यहाँ आत्मीयता नहीं वहाँ विमर्श और कल्याण आकाशकुसुम ही है। फलतः विमर्श और कल्याण की जननी है आत्मीयता और आत्मीयता स्वातन्त्र्य के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। भगवती संक्रान्ति ही उसी स्वातन्त्र्य की जन्मदात्री है। इसलिये ही लोग सदैव संक्रान्ति की उपासना करते हैं। पारतन्त्र्य से परे संसार में कोई महापातक नहीं हैं। परतन्त्रता ही लोक में जितने भी महापाप है उन सबकी जन्मदात्री हैं। जिस प्रकार भगवती भागीरथी त्रिविध तापपापसंहारिणी है, ठीक उसी प्रकार भागीरथीरूपिणी संक्रान्ति पारतन्त्र्य को समूल नष्ट करने वाली है, ऐसा जान करके ही बुद्धिमानों में श्रेष्ठ एवं विनयसम्पन्न लोग सदैव गङ्गारूपिणी संक्रान्ति का स्वागत करते हैं।

आचार्य अमृतवाग्भव ने कहा है कि संसार में जितने प्रकार के दुःख हैं, उन सबको उत्पन्न करने में दरिद्रता ही एकमात्र मूल कारणहै। ऐसा कोई भी दुःख नहीं जो दरिद्र को न सताए। संक्रान्ति के सम्मुख वह दारिद्र्य टिक ही नहीं सकता। दुर्मनस्कता और दुर्भाग्य इसके सम्मुख भागे-भागे

फिरते हैं। दुष्टों के हृदयों से उदित हुई दुश्चिन्तता को यह शमन करती है। अनार्य आततायी लोग दृढ़ बल बना-बना कर संसार में ऐसे बुरे काम करते हैं, जिनके फलस्वरूप लोक में प्रतिदिन दरिद्रय ही नहीं फैलता, अपितु प्रतिपल अधिकाधिक प्रसारित हो करके प्राणिमात्र को अपनी विशाल उदर गुहा में रखने का प्रबल प्रयत्न करता है। उस प्रबल प्रचण्ड विश्वविध्वंसकारी दुर्भिक्ष को देख करके कौन ऐसा सहृदय विद्वान होगा, जिसका विशाल हृदय पीड़ित न हो और उस पीड़ा से व्यथित हो जो उस महान् दुर्भिक्ष को समूल शमन करने वाली आर्यों की परमप्रिय संक्रान्ति का भजन न करे। अर्थात् सभी विद्वान माँ संक्रान्ति का स्मरण करते है। प्रवंचन-शील मनुष्यों के द्वारा प्रसारित पाखण्ड मूर्ख लोगों के हृदयों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है। उसी के परिणामस्वरूप लोक में अनेकों प्रकार के नैतिक एवं धार्मिक विल्पवों का प्रादुर्भाव हुआ करता है और वह संसार को हानिकर ही सिद्ध होते हैं। माँ संक्रान्ति ऐसे अज्ञान पाखण्डों को समूल नष्ट करने वाली हैं। अतः विद्वान लोग ऐसे पाखण्डों का शमन करने में सर्वश्रेष्ठ उपाय संक्रान्ति का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

किंक्रान्ति : दुष्ट क्रान्ति अशान्ति देने वाली है। यह क्रान्ति इस लोक और परलोक का नाश करने वाली है। इनका कहना है कि बिना विचार किये ही जो मानव क्रान्ति को निन्द्य मानते है, राष्ट्र के बचाव के लिये वह पुरूष कभी भी सफल नहीं हो सकते। ज्ञान अथवा अज्ञान से भी जो

पुरूष संक्रान्ति (श्रेष्ठ क्रान्ति) का सहारा नही लेते, दोनों लोकों का विरोध करने वाले तथा दुर्भाग्यशाली ऐसे लोग अति निन्दित हैं। दोनों लोकों का नाश करने वाली किंक्रान्ति (दुष्ट क्रान्ति) को करने वाले पुरूष सहस्रों बार धिक्कार के योग्य होते हैं और अति हीन दशा को प्राप्त होते हैं।

भ्रष्ट राजनीतिज्ञ एवं नीति : दुष्टों का स्वभाव दुःखदायी एवं अकल्याणकारी होता है। यदि ऐसी दुष्ट प्रकृति के लोग देश के शासक बन जाए तो वह देश एवं समाज अधोगति को प्राप्त होता है।

आचार्य ने तत्कालीन कुटिल राजनीतिक शासकों की अहिंसावादी नीति पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि जिसदेश का प्रधानमंत्री नीति के अनुसार तो गौ-हत्या आदि हिंसा को प्रोत्साहन दे, परन्तु वाणी में अहिंसा की रट लगाए तो ऐसा देश अवनति को प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो गौ-धन रूपी लक्ष्मी को तिरष्कृत करके द्ररिदता को ग्रहण करने वाली बात है।

आचार्य ने वर्तमान राष्ट्र नेताओं के असुरगणतुल्य आचार-व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए इन्होंने कहा है कि आज के नेतागण शराब-मांस, रमणियां और बहुत सी जायदादों का दुरुपयोग करते हैं, जोकि असुरों के व्यवहार तुल्य एक निन्दित व्यवहार है। इन्होंने वर्षाकालीन नदी, जोकि क्षण स्थायी है, स्नान एवं प्यास आदि बुझाने के अनुपयोगी होती है तथा गन्दगी से युक्त होती है- से वर्तमान नीति की तुलना करते हुए कहा है कि यह भी क्षण

स्थायी होती हैं। न कि मनु आदि की नीति की तरह चिरस्थायी होती हैं। इसमें पाश्चात्य पद्धति के दोष मिले हुए होते हैं और साधारण जनताकी भलाई की अपेक्षा यह केवल नेताओं के आनन्द के लिए होती हैं।

आचार्य प्राचीन काल एवं आधुनिक काल की अहिंसा इत्यादि नीति की तुलना करते हुए कहते हैं कि प्राचीन काल में पातञ्जलि इत्यादि योगी द्वारा सब दोष रहित अहिंसा वृत्ति सार्थक थी, क्योंकि उनके पास में हिंसक प्राणी भी हिंसा करना छोड़ देते थे, परन्तु वर्तमान काल के नेता असुर स्वभाव सम्पन्न होने से निर्बल जनता को अकारण ही सताते हैं, इसलिये इनकी अहिंसा नीति वास्तव में धर्म विरुद्ध हैं। इनका मानना है कि प्राचीन काल की उदार नीति सर्वजन कल्याणार्थ ऋषि-मुनियों द्वारा भी सम्मानित थी, परन्तु वही नीति आज दुष्टजनों के द्वारा चलाई जाने से विकृतरूप धारण कर गई हैं। जिससे लोग कष्ट पा रहे हैं।

कपटी ऋषि : ढोंगी ऋषि पदवी धारण किए हुए दुर्जनों पर कटाक्ष करते हुए यह कहा गया है कि प्राचीन काल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इत्यादि के मूल कारण बने हुए किसी एक योगविद् सज्जन पुरूष को ऋषि पदवी मुश्किल से मिलती थी, परन्तु आजकल अधर्मी लोग भी बिना किसी श्रेष्ठ आचरण से छल से ऋषि पदवी धारण कर लेते हैं। इनका कहना है कि भोग विरक्त व्यक्ति ही योग की (मोक्ष की) प्राप्ति कर सकता है।

इसके विपरीत भोग भ्रष्ट व्यक्ति कभी भी इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति स्त्री, सम्पत्ति, ज़मीन-जायदाद, ऐश्वर्य इत्यादि में फंसा रहेगा, तो उनका ध्यान इन विषयों में ही लगा रहेगा, तो उनको परमात्म चिन्तन का ध्यान नहीं रहेगा, तो उन्हें मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी।

योग-भ्रष्ट एवं भोग-भ्रष्ट की तुलना करते हुए कहा गया है कि योग भ्रष्ट होने पर पुनर्जन्म में योगी पुनः अपने योग में अग्रसर होता है और इस प्रकार से उसका कल्याण ही होता है, परन्तु इसकी अपेक्षा भोग भ्रष्ट जीव कीट-पतंग इत्यादि निम्न भोग योनियों में निरन्तर कष्ट ही पाता है।

अराष्ट्रीय शासन निन्द्य : आचार्य का कहना है कि अगर शासक राष्ट्रीय हो तो विष भक्षण भी श्रेष्ठ है, लेकिन शासक के अराष्ट्रीय होने पर स्वर्गीय अमृत का भोजन भी योग्य नहीं है। अराष्ट्रीय को जो लोक अपना स्वामी मानते हैं, वे नीच बुद्धि वाले हैं। क्योंकि स्वप्न में भी किया हुआ उनके नाम का उच्चारण पाप उत्पन्न करता है। अराष्ट्रीय लोक राष्ट्रान्तरों पर जिस आक्रमण को करते हैं, वह प्रायः लोभ से ही किया जाता है। इसी कारण वे (अराष्ट्रीय) आततायी होते हैं। अगर कोई अराष्ट्रीय सहस्त्रों गुणों से युक्त हो, बुद्धिमान हो तो भी वह धन और प्रभुत्व के लोभ से आततायी होते ही हैं।

आचार्य का कहना है कि अराष्ट्रीयों को सहाय बनाकर राष्ट्रीय को दण्ड देना जैसी हानि करता है, वैसी हानि तो राष्ट्रीयों का आपस का युद्ध भी नहीं कर सकता। जो राष्ट्रीय पुरूष आपसी युद्ध में अराष्ट्रीय से सहायता की इच्छा करते हैं, वे कुबुद्धि पुरूष शीघ्र ही राष्ट्र का नाश कर डालते हैं।

अयोग्य शासक : आचार्य महोदय का कहना है कि राष्ट्र के द्रव्य को राष्ट्र के नाश में लगाने वाले, महान् अभिमानी, अराष्ट्रीय राष्ट्र को भोग्य समझने वाले, राष्ट्र के शासन के योग्य नहीं हो सकते। उत्कोच अर्थात घूंस लेने वाले, राष्ट्र के साथ द्रोह करने वाले व्यसनी और अराष्ट्रीय शासक होने योग्य नहीं होते।

योग्य शासक : पूज्यवाद ने कहा है कि राष्ट्रीय मानव धर्म और अर्थज्ञान में विद्वान, राष्ट्रीय, दयावान एवं लोभहीन होना चाहिए। अर्थात् इन सभी गुणों से युक्त होने पर ही मानव योग्य शासक कहलाता है। अतएव राष्ट्रीयों को ऐसे गुणों से युक्त मनुष्यों को ही शासक बनाना चाहिए।

शान्ति : जिस शान्ति से राष्ट्र पराधीन होता है, वह शान्ति नहीं कही जा सकती। वह तो केवल कायरता है। अतएव इनके अनुसार शान्ति स्वतन्त्र राष्ट्र में ही हो सकती है।

शिक्षा : शिक्षा ही समस्त उन्नतियों का मूल है। शिक्षा के अभाव में

राष्ट्र की समुन्नति आकाश-सुमनस् तुल्य कल्पनामात्र है। शिक्षा के बिना सब कुछ असम्भव है। अशिक्षित जन अन्धे के समान है। शिक्षा का तात्पर्य आचार्य श्री अमृतवाग्भव देवपाद के अनुसार शास्त्रीय शिक्षा से है।

शास्त्र ही मुख्य है, जिसके पास शास्त्र रूपी नेता का अभाव है, वह अन्धा है। कार्य और अकार्य का निर्णय शास्त्र ही कर सकता है। श्रीमद्भगवद् गीता में यही बात भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा ने अपने सखा अर्जुन से कही थी। शासन के सुचारू संचालन के लिए भी इसी व्यवस्था की मुख्य रूप से आवश्यकता है। शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में हित-अनहित का सही रूप नहीं जाना जा सकता। इसलिए शास्त्रीय ज्ञान के लिए सत् शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। बिना सुशिक्षा के शास्त्र प्रतिपादित तत्त्वों का परिज्ञान नहीं हो सकता। अतः सर्वतोमुखी समुन्नति के निमित्त शिक्षा का सुप्रबन्ध भली-भान्ति होना चाहिए। शिक्षा शून्य जनों के द्वारा राष्ट्रहित कदापि सम्भव नहीं है। योग्य व्यक्ति सबको उन्नति में अपनी उन्नति स्वीकार करते हैं। अयोग्य व्यक्ति स्वयंपतनोन्मुख होते हैं और अपने अनुयायियों को भी पतन के गर्त में गिराते हैं। योग्यता का आधार शिक्षा है। राष्ट्र के जनों को सुयोग्य नागरिक बनाने के लिये सुशिक्षा का होना अनिवार्य है। सुशिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जो ज्ञान और विज्ञान की उन्नति के साथ राष्ट्र को स्वावलम्बी और सदाचार सम्पन्न बना सके। केवल उदर पूर्ति मात्र करने वाली शिक्षा तो शिक्षा-शब्द का दुरुयोग है। उदर पूर्ति तो पशु-पक्षी

भी कर लेते है।

अतः राष्ट्र की उन्नति और मानवमात्र के हित की रक्षा के लिए वेद शास्त्रों का पठन-पाठन प्रधान रूप से होना परमावश्यक है। ज्ञान के बिना विज्ञान और विज्ञान के बिना ज्ञान अधूरा रहता है, इसलिए शिक्षा ऐसी हो, जिसमें ज्ञान-विज्ञान का सामंजस्य बना रहे और सर्वसाधारण इस लाभ को प्राप्त कर सके। इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था इस समय हो, इसकी परम आवश्यकता है। प्राचीन भारत में इसी प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध ऋषिकुलों और गुरूकुलों में किया गया था। आज की जनता की वास्तविक उन्नति इसी प्रकार की शिक्षा से सम्भव है। इनका कहना है कि वर्णाश्रम, जाति, देश और काल को देखकर ही शिक्षा दी जाये जो अपात्र में दिया ज्ञान व्यर्थ होता है। आचार्य चरण ने श्रुति के प्रमाण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि जो ज्ञान-विज्ञान में सिद्धान्तों का सही अर्थ नही जानता, वह उस व्यक्ति के तुल्य है, जिसके सिर पर चन्दन रखा हुआ है और वह उसकी सुगन्ध को नहीं जानता, केवल भार वहन करता है। अज्ञानी जनों को इन्होंने पशु तुल्य बताकर ज्ञानार्जन की अनिवार्यता पर बल दियाहै। जिस शिक्षा से राष्ट्र का वास्तविक हित हो, उसका अर्जन प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

शैक्षिक कर्त्तव्य : आचार्य महोदय का कहना है कि प्रत्येक गाँव में पाठशाला

स्थापित करनी चाहिए। गुरू बालकों को राष्ट्रभाषा और धर्म्यभाषा का ज्ञान कराये। सभी प्रकार से विशुद्ध वातावरण वाले एकान्त तथा वन से सुशोभित स्थान में प्रत्येक मण्डल में एक महान् विद्यालय स्थापित करना चाहिये। जिन बालकों के वय (आयु) के आठ वर्ष पूर्ण हुए हो और वे श्रेष्ठ वैद्यों से संरक्षित हो, उन बालकों को इन विद्यालयों में बीस वर्ष वय के पूर्ण होने पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पढ़ना चाहिए। जिनकी आयु के चार वर्ष पूर्ण हो चुके है, उन बालक तथा बालिकाओं को गाँव की ही पाठशाला में पढ़ाना हितकर है। आठ वर्ष वय पूर्ण होने पर्यन्त ही बालक और बालिकाओं को एक स्थान में पढ़ाना चाहिए। आठ वर्ष के उपरान्त ऐसा नहीं। बच्चों के अध्यापक स्त्रियाँ हो अथवा पुरूष, परन्तु वे वृद्ध और विशुद्ध चरित्र वाले होने चाहिए।।

इन्होंने यह भी कहा है कि सोलह वर्ष आयु के पूर्ण होने पर्यन्त उन बालकों के अध्यापक जवान कदापि योग्य नहीं होते। सुचरित्र और बूढ़े ही अध्यापक उनके लिये हितकर हो सकते हैं। बालिकाएँ गृहसम्बन्धी ज्ञान एवं कार्यों में और राष्ट्रसम्बन्धि ज्ञान तथा कार्यों में प्रयत्न से चतुर बनाई जाएँ, उनकी भी अध्यापिकाएँ बूढ़ी, सुचरित्र एवं राष्ट्रीय होनी चाहिए। राष्ट्रीयों को रणकौशल सिखाने के लिए मण्डल-मण्डल में प्रयत्नपूर्वक महान् विद्यालय स्थापित करने चाहिए।

व्यापारनियमादि की स्थापना : आचार्य अमृतवाग्भव का कहना है कि व्यापार के नियम, शुल्क की योजना, मूल्य की स्थापना राष्ट्रीय स्वयं ही करें। क्योंकि राष्ट्र में उनका ही अपना अधिकार है।

आत्मघाती : जो अपने राष्ट्र का घात करते हैं, वे आत्मघाती कहे जाते हैं। सौ-सौ कोटि जन्मों से भी उन मनुष्यों का उद्धार कभी नहीं हो सकता।

धन्य पुरूष : आचार्य महोदय का कहना है कि उन्नति की अभिलाषा करने वाले जो मानव स्वराष्ट्र को रुधिरों से तृप्त करते हैं वे धन्य है, वे पुण्यवान् हैं और उनके चरण कमल वन्दनीय हैं। इन्होंने यह भी कहा है कि दुष्ट क्रान्ति करने की अभिलाषा रखने वालों के भार से दबी भूमि का आततायियों को दण्ड देकर महात्मा लोक पालन करते हैं।

अधम मानव : इन्होंने कहा है कि वही अधम मानव है, जिन्होंने मनुष्यों के वंश में जन्म पाकर भी वह राष्ट्र दृष्टि नहीं पाई, वे निष्ठा भक्षण करने वाले बिना पूँछ के शूकर हैं। दुष्ट अराष्ट्रीय रूपी राहु से ग्रसे हुए राष्ट्र रूपी ग्रहपति सूर्य को राष्ट्र दृष्टि से रहित (अन्धे) उल्लू किस प्रकार देखें।

अपाहिजों आदि की व्यवस्था : इनका कहना है कि जो भी राष्ट्रीय अन्धे, बहिरे, पंगु, अशक्त और रोगी हैं, उन सब को वृत्ति देनी चाहिये,

क्योंकि राष्ट्र में उनका भी स्वत्व है। उनकी शक्ति के अनुसार (राष्ट्रपरिषद्) उनसे भी कार्यों को कराए तथा उनके योग्य अनेक प्रकार के शिल्प भी उनको सिखलाएं।

पशुचर भूमि एवं उपवन आदि की स्थापना : आचार्य अमृतवाग्भव का कहना है कि पशुओं एवं मनुष्यों के उपयोग के लिये प्रत्येक गाँव में चरागाह भूमि, वन, तालाब, नहर, कुएँ, व्यायामशाला और उपवन की स्थापनाकी जाये।

कानून अथवा नियम : राष्ट्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है और इन नियमों को बनाने वाले व्यक्ति अगर दूरदर्शी अथवा समझदार नहीं होंगे, तो वे नियम लाभ को अपेक्षा हानि पहुँचा सकते हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं कि राष्ट्र की उन्नति के लिए नियम बनाने वाले राष्ट्र संचालकों की नियुक्ति राष्ट्रीयों द्वारा ही होनी चाहिए और वे (राष्ट्र संचालक) राष्ट्रज्ञानी, दूरदर्शी, राष्ट्र के योगक्षेम की चिन्ता में कुशल एवं तत्त्वदर्शी होने चाहिए।

भिक्षाशी का दण्ड : पूज्यपाद का कहना है कि बुद्धिमान, अभिमान से रहित, आत्मविचार में लगे हुए और राष्ट्रसेवा में लगे हुए मनुष्यों को छोड़कर भीख माँग खाने वालों को दण्ड देना चाहिए।। राष्ट्रीय पुरूषोंकोसब स्थानों में गुप्तचर, राष्ट्रसेवक स्थापित करने चाहिए। वे नानावेश, राष्ट्रीय,

ुद्धचरित्र, राष्ट्रशिक्षित, अभृत्य हो और वे सभी प्रकार से शुभ भी होने
ाहिए। वे शीघ्र से शीघ्र सन्देश पहुँचाने की यत्न से योजना करने वाले
ोने चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीय पुरूष को सावधान हो करके अनेक यन्त्रों
का आविष्कार करना चाहिए। इनके लिये सुगम, निर्भय एवं दृढ़ सेतु वाले
मार्ग बनाए जाएँ और जल, स्थल तथा आकाश में चलने वाले यानों का
निर्माण किया जाए।

वृत्ति प्रशंसा तथा भृतिनिन्दा : राष्ट्र के नेता राष्ट्रीयों को वृत्ति युक्त
बनाए, क्योंकि राष्ट्र में समस्त राष्ट्रीयों का जन्म से ही अपना अधिकार
होता है। राष्ट्रीय लोक भृति लेकर कदाचित् भी कार्यों को न करें। वह
भृति मानव को निश्चय से राष्ट्रकार्य से बहिर्मुख कर डालती है। राष्ट्रसेवा
और राष्ट्रमाहात्म्य के विद्वान राष्ट्रीय उचित वृत्ति लेकर राष्ट्रीयों के कार्यों
को सम्पूर्ण करे।

वृत्ति और भृति दोनों अलग ही अलग हैं। राष्ट्रीय लोक भृति न ग्रहण
करें, क्योंकि भृति लेने वाले भृत्य कहे जाते हैं और वृत्ति लेने वाले भृत्य नहीं
कहे जाते।

शूरवीरता : आचार्य भगवान् परशुराम के जीवन चरित्र निरूपण से यह
कहना चाहते हैं कि राष्ट्र के निवासियों को शूरवीर होना चाहिए। एक
क्षत्रिय को ही नहीं, प्रत्युत ब्राह्मण को भी वेदाध्ययन, पूजा-पाठ एवं नित्य

कर्मों आदि के अतिरिक्त अस्त्र-शस्त्र विद्या में भी निपुण होना चाहिए ताकि समय आने पर वह अपने समाज की राष्ट्र की रक्षा कर सके।

इन्होंने यह भी कहा है कि आततायियों का विनाश करने के लिये यदि क्रान्तिकारी चोरी करे तो वह चारी नहीं है, वह तो शूरता है। श्रेष्ठ क्रान्ति करने वालों का जो पुरूष विरोध करते है, शूरता का अभिमान रखने वाले उन पुरूषों का वह शौर्य नहीं है, वह तो नपुंसकता हैं। दस्युवृत्ति भी राष्ट्रसंरक्षिणी हो तो वह श्रेष्ठ कही गई है। शूरों की वृत्ति भी राष्ट्रद्रोह करने वाली हो तो वह श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। इनका कहना है कि शूरवीरों का निरन्न और निर्जल स्थान में प्राण छोड़ देना श्रेष्ठ है, किन्तु श्ववृत्ति से जीवन जीना अच्छा नहीं।

विविध क्षेत्र

दार्शनिक, धार्मिक ओर राजनीति विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक विद्या कार्यक्षेत्रों में भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जो इस प्रकार है :

1. सम्पादन एवं प्रकाशन : आचार्य का सम्पादन एवं प्रकाशन के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान हैं, वास्तव में बचपन में ही परिवार का भार पड़ने से एवं जीविका निर्वाह हेतु धनार्जन के लिये इन्होंने पुस्तकालयादि में काम किया। जहां पर इन्होंने बहुत सी धार्मिक पुस्तकों का सम्पादन भी किया।

इसी प्रकार आचार्य ने अपनी सिद्धावस्था में अपनी पुस्तकों का "श्री स्वाध्याय" जैसे शोध संस्थान से सम्पादन भी किया। इन्होंने जम्मू से "श्री पीठ सैद्ध दर्शन शोध-संस्थान", दिल्ली से "विद्वद्वरकले श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान" और जयपूर से "श्री अमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा और शोध संस्थान" स्थानों की स्थापना करके उनसे अपनी पुस्तकों का प्रकाशन भी कराया था। इन्होंने प्रकाशन कार्य हेतु "श्री विद्या प्रकाशन" नामक एक प्रसिद्ध संस्था का भी निर्माण किया था।

साहित्य क्षेत्र

2. पूज्यपाद का साहित्य के क्षेत्र में भी काफी योगदान रहा है, जो इस प्रकार है :

(क). हिन्दी लेख,

(ख). हिन्दी कहानियाँ,

(ग). लुप्त कृतियाँ,

(घ). टीका ग्रन्थ।

(क). हिन्दी लेख : आचार्य ने बहुत से हिन्दी लेख भी लिखे, जो इस प्रकार है :

1. जीवन के संस्मरण : इन्होंने अपने जीवन के कई मर्मस्पर्शी संस्मरण स्वयं लिख कर "श्री स्वाध्याय" में प्रकाशित कराये थे। उन लेखों का पुनः प्रकाशन जयपुर से "श्री अमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा और शोध संस्थान" द्वारा "परमपूज्य बाबा महाराज" नामक पुस्तक में हुआ।

2. धर्म, अर्थ और इतिहास : आचार्य "श्रीस्वाध्याय" में धर्म, अर्थ और इतिहास विषयों पर भी समय-समय पर अपने लेख प्रकाशित करवाते रहे। उन लेखों में से बहुतों का पुनः प्रकाशन भी जयपुर से "श्री अमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा और शोध संस्थान" द्वारा "परमपूज्य बाबा महाराज" नामक पुस्तक में किया गया।

3. वस्तुस्थिति : इस शीर्षक से "श्री स्वाध्याय" में पूज्यपाद की एक लेख माला प्रकाशित हुई थी। उन लेखों का संग्रह करके और आवश्यकता

के अनुसार उनका स्पष्टीकरण करते हुए "श्री पीठ" नाम के सैद्ध दर्शन शोध संस्थान" की ओर से उसको पुनः प्रकाशित करवा दिया गया।

(ख). हिन्दी कहानियाँ : "श्री स्वाध्याय" में पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय के द्वारा लिखी गई तथा सच्ची घटनाओं का वर्णन करने वाली चार कहानियाँ भी समय-समय पर प्रकाशित हुई थी। जो इस प्रकार है :

1. सुदृढ़ शरीर,

2. विचित्र विधान,

3. प्रमाद,

4. मल्लयुवा।

1. सुदृढ़ शरीर : यह कहानी एक ऐसे बंगाली महात्मा के सम्बन्ध में है, जिनके दर्शन इनको विन्ध्याचल में भगवती अष्टभूजा के समीप हुए थे। महात्मा जी प्रायः अहोरात्र ही कृष्ण-भक्ति में मस्त रहा करते थे और उनका शरीर वृद्धावस्था में भी खूब हृष्ट, पुष्ट और बलशाली था। आचार्य उनसे बहुत प्रभावित हुए। महात्मा जी पहले जज थे, जिनकी अदालत में एक गरीब ब्राह्मण के मुकद्दमें में स्वयं भगवान् कृष्ण एक देहाती के रूप में प्रकट हो कर आए और ब्राह्मण के पक्ष में साक्षी देकर जल्दी ही अदृश्य हो गए। ब्राह्मण को अदालत ने निरपराध घोषित किया। जज साहिब

अतीव प्रभावित हो गए। रात के समय घर से निकल कर अदृश्य हो गए। अनेकों वर्षों के पश्चात् उनके पुत्रों और पत्नी ने उन्हें अष्टभुजा के निकट ठहरे हुए साधु के रूप में पाया। इन्होंने ने यह जीवन-गाथा वहां के लोगों से सुनी और "श्री स्वाध्याय" में प्रकाशित करवा दी।

2. विचित्र-विधान : यह कहानी पटना के एक वृद्ध ब्राह्मण के सम्बन्ध से है, जिसने मरणासन्न अवस्था में प्रतिज्ञा की, कि यदि स्वस्थ हो जाऊँ तो शेष जीवन भगवान् को अर्पण कर दूंगा। दैवी माया से वह स्वस्थ हो गया और सन्यासी बनकर ऋषिकेश आया। वहीं बद्री नारायण की यात्रा को चला। परन्तु बीमारी के कारण आई कमजोरी से साधुओं के साथ नहीं चल सका। बहुत थककर वन में रात को एक चट्टान पर चढ़कर लेट गया, उसे नींद भी नहीं आई। भगवान ने कृपा करके रात को चमकने वाली एक दिव्य औषधि के दर्शन करा दिये। उस औषधि के पत्तों को पेट भरकर खाया और उसी चट्टान पर सो गया। ब्राह्मण दूसरे दिन काफी देर से जब जाग पड़ा, तो उसने अपने आप को उतना बलशाली पाया जितना वह बीमारी से पहले था। फिर न उसे भूख और प्यास ने सताया। कई दिन वहीं ठहरा। परन्तु उस औषधि ने पुनः दर्शन नहीं दिए। इस कहानी को जैसे आचार्य को एक सन्यासी ने सुनाया, वैसे ही इन्होंने उसे लिखा और "श्री स्वाध्याय" में प्रकाशित करवा दिया।

3. प्रमाद : यह एक युवा ब्रह्मचारी की कहानी हैं। वह आसाम में परशुराम कुण्ड की यात्रा को साधुओं के संग चल पड़ा और मार्ग में बीमार हो गया। तभी ब्राह्मण को एक महात्मा ने दर्शन दिए, उसे रोग से मुक्त कर दिया। महात्मा ने उसे आदेश दिया कि वह यह बात किसी से न कहना और वापसी पर अकेला पुनः मिलना। परिचित साधु उसे पूछते रहे कि वह कुण्ड पर कैसे पहुंचा। उसने किसी को कुछ नहीं कहा, परन्तु अन्त में एक स्नेही वृद्ध साधु को सारी बात बता ही दी। बात फैल गई। वापिसी पर महात्मा ब्रह्मचारी को नहीं दीखे, वह उन्मत्त सा हो गया। वह अकेला कई दिन भूखा, प्यासा वहां रोता रहा। अन्ततोगत्वा महात्मा ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि अब तेरी इस जन्म में आध्यात्मिक प्रगति नही हो सकती। अगले जन्म में अवश्य होगी, क्योंकि तूने बड़ा प्रमाद किया हैं। तब ब्रह्मचारी पुनः बस्ती में आ गया और तीर्थों के दर्शन करता हुआ भगवद् भजन में आयु के दिन पूरे करता गया। ब्रह्मचारी ने यह कहानी पूज्यपाद जी के एक मित्र को जैसे सुनाई, वैंसे ही इन्होंने इसे "श्री स्वाध्याय" के लिए लिख दिया।

4. मल्लयुवा : यह एक ब्राह्मण साधु की कहानी हैं, जोकि हरियाणा के एक गाँव में रहता था और पहलवानी करता था। वहाँ जाटों के एक पहलवान ने राजपूतों को दंगल की चुनौती दी। राजपूत इस ब्राह्मण बालक को अपने घर ले गए और दुध, घी आदि खुब खिलाते रहे। फिर वे

दाल के साथ मांस भी उबाल लेते थे और इस तरह से उसे गुप्त रूप से मांस का रस भी खूब पिलाते रहें। क्योंकि वह इस बात के लिए उत्सुक थे, कि ब्राह्मण युवा जाटों के पहलवान को परास्त करे। ब्राह्मण को इस बात का तब तक पता नहीं लगने दिया, जब तक कि दंगल नहीं हुआ। उसके पश्चात् बात छिपी नहीं रही और ब्राह्मण पहलवान के माता-पिता ने भी सुन ली। उसके पिता ने क्रोध में आकर उसे डाँट-डपट कर घर से निकाल दिया। मल्लयुवा राजपूतों की शरण में न जाकर भगवान् की शरण में आया और साधु बन गया। थोड़े से ही समय में आध्यात्मिक क्षेत्र में काफी उन्नति कर गया। दुर्भाग्यवश यह कहानी "श्री स्वाध्याय" में अधुरी प्रकाशित हुई हैं।

(ग). लुप्त कृतियाँ : पूज्यपाद जी ने अपनी कृतियों की सूची में कुछ ऐसे काव्यों का नामोल्लेख किया है, जो अभी तक कहीं नहीं मिले। वे काव्य इस प्रकार हैं :

1. बालाम्बास्तवः : यह इष्ट देवी बाला त्रिपुरा का स्तोत्र था, जिसमें देवी माँ का बहुत ही आदर एवं समान किया गया था। सोलन के महेश वकील ने इसे खो डाला हैं।

2. श्रीकृष्णगीत दशकम् : इसमें श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया था। इस स्तोत्र को भी महेश वकील

ने ही खो डाला है।

3. वैद्यानुप्रति : आचार्य के ग्रन्थों की सूची में इसका नाम भी है। सम्भावत: इसमें वैद्यों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया था। इस कविता के विषय में कोई पता नहीं चला कि कहां है।

4. सूक्ति लहरी : आचार्य की लिखी ग्रन्थ सूची से विदित होता है कि इस शीर्षक वाला एक और सूक्ति संग्रह पूज्यपाद ने तैयार किया था। परन्तु वह संग्रह उनकी पुस्तकों और अन्य कागजों में अभी तक कहीं नही मिला। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि "श्री स्वाध्याय" में जो इनकी अनेकों सुक्तियाँ समय-समय "निवेदन" इस शीर्षक से प्रकाशित होती रही, उन्हीं में से एक और सग्रह का संकलन इन्होंने इस नाम से किया होगा।

5. गज़ल : पूज्यपाद गज़ल भी लिखा करते थे। इनके लिखे लगभग एक सौ गज़लें सोलन में महेश वकील के पास थे, जिन्हें उसने खो डाला।

6. असम्पादित श्लोकसंग्रह : आचार्य की एक डायरी में 53 श्लोकों का एक संग्रह मिला, जिन्हें सुक्तियों में गिना जा सकता है। संग्रह अस्त व्यस्त क्रम में है ऐसा प्रतीत होता है कि उसे समुचित क्रम में लाकर उसका सम्पादन भी किया गया हों। हो सकता है कि "सूक्ति लहरी" इन्हीं श्लोकों का संग्रह हो।

7. प्रशस्तियाँ : पूज्यपाद विवाह आदि उत्सवों पर, सम्मेलनों तथा सांस्कृतिक संगोष्ठियों पर और अन्य ऐसे अवसरों पर श्लोक रचना किया करते थे। यहां कहीं भी संगोष्ठी होती आचार्य महोदय उसमें अवश्य भाग लेते थे, इसी उपलक्ष्य में यह बम्बई और कलकत्ता आदि नगरों में भी गये। मान्य महानुभावों का गुणगान करते हुए प्रशस्तियाँ भी लिखा करते थे। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के जन्म दिवस पर वाराणसी में एक उत्सव मनाया गया था। उस अवसर पर इनकी संस्कृत श्लोकों में लिखी हुई एक प्रशस्ति मिली थी। जो अतीव सुन्दर थीं। इस प्रशस्ति को उसी उत्सव पर प्रकाशित किया गया था। इन्होंने बहुत सी प्रशस्तियाँ लिखी थी, परन्तु उनके विषय में कोई पता नहीं चला कि कहां है।

8. फुटकर श्लोक : पूज्यपाद के द्वारा निर्मित फुटकर श्लोक कई एक शिष्यों के पास विद्यमान थे। कुछ ऐसे श्लोक उनके कागज़ों में भी मिले थे। इन्होंने संस्कृत में बहुत से श्लोक लिखे, जिनके विषय में कुछ पता नहीं चला कि कहां है।

(घ). टीकाग्रन्थ : आचार्य ने कई एक ग्रन्थों के प्रास्ताविक भाग लिखे। उनमें से धर्माचार्य की पश्चस्तबी का जो प्रास्तविक श्रीनगर से कश्मीर ग्रन्थावली से प्रकाशित सटीक संस्करण के प्रथम खण्ड के साथ प्रकाशित हुआ है। वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, पुनः इन्होंने कई एक टीका

ग्रन्थ लिखे, जिनमें से दो का उल्लेख इनकी कृतियों की सूची में मिलता है वह है- कल्याण सौगन्धिक नाटक की टीका श्री कला और देवी मानसपूजा की संस्कृत टीका। ये टीकाएँ कहीं देखने में नहीं आई। इनके पन्नों में इनके प्रपितामह के द्वारा रचित स्तोत्र की संस्कृत टीका के कुछ ही अंश मिलते हैं। स्तोत्र भी नहीं मिला है।

वाराणसी से सरस्वती भवन पुस्तकालय में शोध कार्य करते हुए इन्होंने कई एक ग्रन्थों का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। उनमें से प्रमुख ग्रन्थ है - वृत्तरत्नाकर की नारायणीय टीका और त्रिपुरा रहस्य का ज्ञान खण्ड यह ग्रन्थ भी कहीं देखने को नहीं मिलें।

हम लोगों का पूज्यपाद की इन्हीं कृतियों से ही परिचय है, हो सकता है कि इन्होंने और भी बहुत कुछ लिखा हो जो हमारी दृष्टि में अथवा श्रुति में नहीं आया।

चतुर्थ अध्याय
आचार्य का भारतीय दर्शनों में महत्त्व

आचार्य का भारतीय दर्शनों में महत्त्व

बीसवी शताब्दी में आचार्य अमृतवाग्भव ने दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वह एक साधारण ब्राह्मण परिवार से सम्बन्ध रखते थे, बाल्यकाल में ही उनको अपने माता-पिता के स्नेह एवं प्रेम भरी छत्र-छाया से हाथ धोना पड़ा। आर्थिक दशा भी इतनी सुदृढ़ नहीं थी कि आसानी से अपना जीवन निर्वा कर सकते। इसीलिये इनका अध्ययन विधिवत् एवं सुचारू ढंग से नहीं हो पाया, तथापि कांटों में पुष्प की तरह इन्होंने भी यत्किञ्चित् अध्ययन अथवा ज्ञान अर्जित किया, वह संघर्षमय जीवन के मध्य में ही प्राप्त किया।

इनको अपने पूज्यपिता से श्रीविद्या की दीक्षा मिली थी, जिसके फलस्वरूप इनको सिद्ध दुर्वासा के दर्शन हुए और उन्होंने इनको शैवदर्शन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान बतलाया। अतः आचार्य का आध्यात्मिक ज्ञान उनके स्वयं के तप, अनुभव, प्रतिभा एवं श्रीविद्या और सिद्ध दुर्वासा के अनुग्रह का प्रासाद था।

आचार्य ने भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। क्योंकि दर्शन एक सिद्धान्त, दृष्टिकोण, विचारधारा अथवा तत्त्व साक्षात्कार का ही नाम है, जो एक साधक अथवा महापुरूष अपनी साधना के माध्यम से पारमार्थिक सत्ता या जागतिक तत्वों के सम्बन्ध में अनुभव करता है। यही कारण है कि अनेक दर्शन अथवा मत पाए जाते है। प्रत्येक साधक एवं दार्शनिक जिस मानसिक स्तर की ऊँचाईयों पर पड़ान करता है, उसी के स्तर का उसको आध्यात्मिक अनुभव भी होता है। सभी का मानसिक स्तर एक जैसा नहीं हो सकता। अनुभव करने वालों का भी और जिसको उसका ज्ञान करवाना है उसका भी। इसलिये दर्शनों में परस्पर मतभिन्नता पाई जाती है, यद्यपि सभी किसी न किसी सत्य को प्रदर्शित करते ही है।

जैसे चार्वाक अथवा लोकापत-आचार्यों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्व माने गये है। इनके परस्पर आकस्मिक अथवा स्वाभाविक मेल से जगत् का निर्माण होता है। इसमें कोई काल, प्रकृति (अव्यक्त) दैव अथवा ईश्वर इत्यादि का योगदान नहीं होता है। उदाहरणतया ताते का रंग हरा किसने बनाया, कोयल का कण्ठ को सुरीला और कौए के कण्ठ को कर्करस किसने बनाया ? अग्नि का उष्णत्व और जल का शीतलत्व किसने बनाया ? स्पष्ट है यह उनको स्वाभाविक है। इसी प्रकार चारों तत्वों का जब स्वयं ही विच्छेदन हो जाता है, तो जगत् का संहार हो जाता है।

अत: स्पष्ट है कि चार्वाकों ने जगत् का कोई सत्ता नही माना है। आचार्य चार्वाकों के ऐसे दृष्टिकोण से सहमत नही है। भले ही जगत् के निर्माण में पृथ्वी आदि तत्वों का योगदान होता है, तथापि ये जड़ होने के कारण स्वयं नही मिल सकते। अन्यथा जगत् में अव्यवस्था की शंका उत्पन्न हो जाती है। व्यवस्था अथवा नियामक न होने से जब कभी होगा किसी का शरीर बन जाएगा अथवा कभी असमय में ही नष्ट हो जाएगा। कोई भी अंग कहीं भी बन जाएगा और कहीं से हट जाएगा। आम के बीज से नीम का पेड़ उत्पन्न होने लगेगा इत्यादि।

इसी प्रकार बौद्ध आचार्यों के अनुसार जगत् के निर्माण में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु बाह्य तत्त्वों का योगदान रहता है। इनका यह मानना है कि स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुणों वाले इन तत्वों का स्वयं ही मेल होता है। कोई भी ईश्वर अथवा अन्य नियामक तत्त्व ऐसा नहीं करता। इसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान- इन पांच तत्त्वों को आन्तरिक तत्त्व (पांच स्कन्ध) माना गया है। इन आन्तरिक और बाह्य तत्त्वों के परस्पर मेल से ही जगत् का निर्माण माना गया है। इनके विच्छेदन होने से ही जगत् का संहार होता है।

अत: स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार अन्त: बाह्य समुदायों के मेल से ही जगत् रचना मानने के कारण इन्होंने कोई अन्य जगत्कर्त्ता नहीं माना है। आचार्य इस मत से सहमत न होते हुए कहते हैं कि ये दोनों प्रकार के समुदाय जड़ होने के कारण जगत् रचना में असमर्थ है। कोई भी चेतन तत्त्व इनका संयोग नही करवाता। अत: व्यवहार विरुद्ध होने से इनका मत असम्मत है।

इसी प्रकार जैन आचार्य पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु- जिनके गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण है, भौतिक तत्त्वों के परस्पर मेल से जगत् रचना मानते हैं। इन तत्त्वों के छोटे से छोटे अंश को अणु कहते हैं। जिसके और भाग नही किए जा सकते। इन दोनों के पूरकरूप को पुद्गल कहा गया है। इन तत्त्वों के परस्पर विच्छेदन से जगत् का संहार माना गया है।

आचार्य ने इनका मत भी बौद्धों की तरह तर्कसंगत नहीं माना है, क्योंकि जब तक जड़ तत्त्वों का कोई चेतन नियन्त्रक नहीं होगा, यह स्वयं क्रियाशील अर्थात् संयोजन, वियोजन में समर्थ नहीं हो सकते।

मीमांसक जगत् की सत्यता को स्वीकार करते हैं। वह इन्द्रियों के द्वारा जिस रूप में उपलब्ध होता है, उसी रूप में उसकी सत्यता है। जगत् सत्य का ज्ञान शरीर इन्द्रिय और पदार्थ इनके रूप में उपलब्ध होता है,

जैमिनि ने जगत् की रचना के पीछे किसी ईश्वर का उल्लेख नहीं किया। प्रभाकर और कुमारिल तो जगत् की सृष्टि और विनाश के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। प्रभाकर और कुमारिल जगत् के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक जैसा मत रखते है, लेकिन यह नहीं मानते कि ईश्वर ने नित्य परमाणुओं से संसार को बनाया है। साथ ही उनकी तरह वह सृष्टि-प्रलय के क्रम को भी नहीं मानते। मीमांसा मूल जगत् की सृष्टि तथा प्रलय नहीं मानते। प्रभाकर के अनुसार सभी परिमित वस्तुएं अवयवों से निर्मित है और अवयवों के संयोग से उनकी उत्पत्ति तथा विभोग से उनका नाश होता है। सभी प्राणी और मनुष्य अपने जनक-जननी से उत्पन्न होते हैं। संसार की सभी चीज़ें अपने-अपने कारणों से पैदा होती है। सभी कार्य अपने प्रकृति कारणों से पैदा होते हैं। इसके पीछे किसी ईश्वर अथवा अलौकिक कारण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

जैसे मीमांसक लौगाक्षि भास्कर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता, हर्त्ता-धर्त्ता जीवात्माओं का अर्न्तयामी तथा जगत् का नैतिक शासक मानते हैं। ऐसा ही मत वेदान्तदेशिक का भी है। मीमांसक अणुवाद को स्वीकार करते हैं। जगत् के सब पदार्थ अणु से उत्पन्न हुए हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणु संयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है।

इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के अनुसार जगत् परमाणुओं से बनता है, जो कि नित्य द्रव्य होते हैं। ईश्वर जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों का फल उनको दिलाने के लिये इनको जोड़कर संसार की सृष्टि करता है और इसी प्रकार इन्हें पृथक-पृथक करके इसका संहार करता है। इस प्रकार वह कुम्हार की तरह जगत् का निमित्त कारण होता है। ऐसा निमित्त कारण होने के कारण ही उसे जगत्कर्त्ता कहा जाता है।

जड़, प्रकृति और चेतन एवं निष्क्रिय दूसरीओर सांख्य योग वाले पुरूष के मेल से जगत् रचना मानते है। इसी प्रकार योग में भी प्रकृति और पुरूष के संयोग से ही विश्व सृष्टि मानी गई है, जबकि ईश्वर का जगत्-रचना में कोई विशेष योगदान नहीं है।

परन्तु वेदान्तियों के मत में एकमात्र ब्रह्म सत्य है और उसके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। अतएव जगत् मिथ्या है। केवल भ्रम (माया) के कारण उसकी प्रतीत होती है। इस कारण ब्रह्म जगत् का कर्त्ता न होता हुआ अकर्त्ता है।

आचार्य ने इन मतों का खण्डन करते हुए कहा है कि वस्तुतः यह इस प्रकार का दृष्टिकोण असत्य है।[1] क्योंकि यदि आत्मा अथवा ईश्वर को कर्त्ता नही माना जाता अर्थात् उसमें कुछ भी करने में समर्थ नहीं मानी जाती तो उस पर जड़ता का दोष आता है और यदि उसको कर्त्ता मान लिया जाता है तो द्वैतता का दोष आता है क्योंकि आत्मा अद्वितीय है, इसलिये किसी दूसरे का अस्तित्व न होने से कर्तृत्व कैसे होगा।[2] इनका यह भी मानना है कि यदि यह कहा जाए कि वेदों में आत्मा का कर्तृत्व माना नहीं गया तो इनका कहना है कि उन्हीं वेदों में उसका अन्यत्र कर्तृत्व भी दिखाया गया है।[3] वह कहते है कि कर्तृत्व और अकर्तृत्व सापेक्ष तत्त्व है, अतएव काल्पनिक है। वास्तव में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों जिसमें हो, वह पूर्ण कर्त्ता ही आत्मा अथवा ईश्वर कहा जाता है।

जो पूर्णकर्तृत्व है, वही अकर्तृत्व कहलाता है। ऐसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। तात्पर्य यह है कि कुछ वेदान्ती जैसा कि गौडपादाचार्य, शंकराचार्य आदि, जिन्होंने केवल समझाने के लिये आत्मस्वरूप को अकर्त्ता कहा है। उनका तात्पर्य भी पूर्ण कर्त्ता में ही है। निरपेक्ष अकर्तृत्व तथा पूर्णकर्तृत्व एक ही है। लोग यह नहीं समझते कि ब्रह्म को सर्व-शक्ति-स्वरूप कहने वाले शंकराचार्य कर्तृत्व के विरोधी कैसे हो सकते हैं ?[4]

वास्तव में शिव से लेकर के पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्व एवं शिव से लेकर सकल पर्यन्त सात प्रमाताओं अर्थात् वाच्यवाचक, शब्द अर्थ, अथवा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के रूप में समस्त जगत् प्रपञ्च का अपनी स्वातन्त्र्य, (विलास) शक्ति से आविर्भाव करता हुआ कर्तृत्व लेश से रहित अद्वितीय स्वरूप-स्वात्मा पूर्णकर्तृत्व से सदैव शोभायमान रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य ने विविध दर्शनों अथवा प्रचलित दृष्टिकोणों पर अति गम्भीरता से विचार किया है और उनकी कमी पेशी को काश्मीर शैव दर्शन के रूप में पूरा किया है। अतः भारतीय दर्शन में काश्मीर शैव दर्शन एक परिपूर्ण दर्शन है। यद्यपि इनसे पूर्ववर्ती काश्मीर शैवाचार्यों ने इस दर्शन में

1. वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथाऽपरे।
विश्वकतरिमिति तत् वस्तुतो द्वयमप्यसत्।। –अ.वि., 6/2

2. अकर्तृत्वे जडत्वं स्यात् कर्तृत्वे द्वैतमापतेत्।
अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृताऽकर्तृते कथम्।। –वही–, 6/3

3. यद्युच्येत श्रुतावुक्तः कर्तृत्वाऽभाव आत्मनः।
कर्तृत्वमपि तत्रैव प्रोक्तं तदपि दृश्यताम्।। –वही–, 6/4

4. "यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति।" –ब्र.सू., श.भा., 1/2 पृ.–61

महत्वपूर्ण योगदान दिया है और अपनी अद्वितीय कृतियों के माध्यम से इसको संवारा है, तथापि आचार्य ने कुछ नवीन मान्यताओं के साथ इसके रूप को और भी सुदृढ़ धरातल स्थपित कर दिया है।

इनके मत में परमिशिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय रूप है। विश्वोत्तीर्ण रूप में जड़ चेतन सकल प्रपञ्च ऐक्य रूप में विद्यमान रहता है, जगत् रचना के समय वही उनकी इच्छा से बाहर अभिव्यक्ति हो जाता है और विश्वमय रूप कहलाता है। इसमें इनकी अपनी स्वात्त्रय शक्ति का ही विलास कारण बनता है। न कि वेदान्त की तरह माया आदि अथवा न ही न्याय वैशेषिक, मीमांसा वालों की तरह भौतिक तत्त्वों पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है या न ही सांख्य योग की जड़ प्रकृति और निष्क्रिय चेतन पुरूष की तरह इस दर्शन में, कोई सृष्टि कार्य में असमर्थता का दोष पाया जाता है। अतएव स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में आचार्य के दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व है।

पंचम अध्याय

आचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण की वर्तमान समय में प्रासंगिकता एवं उपसंहार

आचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण की वर्तमान समय में प्रासंगिता एवं उपसंहार

आचार्य अमृतवाग्भव एक बहुत ही सुलझे हुए दार्शनिक व्यक्ति ही नहीं थे, प्रत्युत राष्ट्र, समाज एवं राजनीति के पहलुओं में भी गहरी पैठ रखते थे। इन्होंने जो कुछ भी अपने अनुभव, साधना, ईश्वर-भक्ति और अपने अभ्यास के बल पर अनुभव किया, वो बातें इन्होंने अपनी कृतियों में निबद्ध करके आज के युग के लिये एक सफल मार्ग दर्शक का काम किया है, क्योंकि इनकी वे शिक्षायें आज के विश्व समाज के लिये बहुत ही उपयोगी, हितकारक एवं प्रासंगिक है। उनमें से कुछ इस प्रकार है :-

क) राजनीति विषयक आदर्श

आचार्य का राजनीतिक दृष्टिकोण इस प्रकार से है :-

1. साधा जीवन और उच्च विचार

आचार्य एक उच्च कोटि के सन्त थे। इनका जीवन बिल्कुल साधारण था और विचार बहुत उच्च थे। आचार्य लंगोटी पहनते थे। इनकी वेश-भूषा, उठने-बैठने और बोलने से ही पता चल जाता था कि यह जन्म से ही महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। यह निरन्तर ही एक विषय को लेकर के घण्टों तक बिना किसी थकावट के बोलते रहते थे। आचार्य स्वार्थी नहीं थे और न ही आडम्बरवाद साधु थे। इनका साधारण जीवन सर्वथा अनुकरणीय था। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साधा जीवन व्यतीत करते हुए भी वे एक उच्च प्रतिभा से युक्त थे और इनको अपनी इस विद्ववता का रति भर भी मिथ्या अभिमान नहीं था। अतः हमें भी आचार्य के आदर्शों पर चलना चाहिए, इनकी तरह ही साध जीवन व्यतीत करना चाहिए और हमेशा की उच्च विचार रखने चाहिए।

इनके इस प्रकार के साधारण जीवन और उच्च विचारों से वर्तमान अशान्त और भौतिक आडम्बर वाले समाज को यह शिक्षा मिलती है कि उच्च विचार दिखावे में नहीं है। यह तो साधारण जीवन में भी उसी प्रकार पनप सकते है जैसे काँटों में फूल।

2. राष्ट्र

आचार्य का मानना है कि राष्ट्र भोग और मोक्ष प्रधान करता है, अतः वह हमारा स्वामी है और हमें अपने आप को उसका सेवक समझना चाहिए। क्योंकि उसकी तीन शक्तियां (राष्ट्रकाली = शक्ति, बल,

राष्ट्रलक्ष्मी = धन, राष्ट्र सरस्वती = विद्या, ज्ञान) उसमें रहने वाले लोगों को भोग और मोक्ष प्रदान करती है। इनके अनुसार राष्ट्र माता-पिता एवं गुरू तुल्य है। राष्ट्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जितनी भूमि में समान सभ्यता एवं संस्कृति के लोग रहते हैं उतनी पितृपुण्य स्थान को घेर कर एक राष्ट्र बनता है। जो व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि अपने राष्ट्र में रहते हुए भी अराष्ट्रीय हमें वृत्ति दे रहे हैं, वह मूर्ख होते हैं बुद्धिमान नहीं। जो लोग जिस राष्ट्र को सभी प्रकार से पितृभूमि और पुण्य भूमि मानते हैं, वह राष्ट्र उन लोगों का सभी प्रकार से अपना होता है। जिस पुरूष का जिस राष्ट्र में पितृभूत्व और पुण्यभूत्व दोनों नहीं, उस पुरूष का उस राष्ट्र में अपनापन नहीं होता। अभारतीय भारत के अतिथि हो सकते हैं, राष्ट्रीय नहीं। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य स्वयं एक सच्चे राष्ट्रवादी तो थे ही, अन्य राष्ट्र में रहने वाले लोगों के लिये भी इनकी यह शिक्षा अमूल्य है कि जिस राष्ट्र में वह खो रहे है, पी रहे हैं, फल-फूल रहे है उसके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा, निष्ठा एवं सत्कार की भावना होनी चाहिए।

राष्ट्र में रहने वाले लोगों को उसमें उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए, अन्यथा यदि उन्ही वस्तुओं को विदेशों से मँगवाया जाएगा तो वह राष्ट्र दुलर्भ हो जाएगा, क्योंकि एक तो उसको अपनी सुलभ शक्ति का उपयोग नही होगा और दूसरे उसके अपने धन का जोकि उस राष्ट्र में अच्छे साधनों में लोगों की उन्नति के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था, दूसरे राष्ट्र में जाएगा और उनकी सुख-समृद्धि करेगा। जिस राष्ट्र में राष्ट्रघाती चाण्डाल जीवित रहते है वह राष्ट्र राष्ट्रीयों के हाथों से आक्रान्त हो जाता है अतः राष्ट्र का सर्वथा अभ्युदय करने के लिये उसके गाँव-गाँव में राष्ट्र जागृति की भावना जगाने के लिये सुन्दर परिषदों का निमार्ण होना चाहिए इसके साथ ही राष्ट्रभाषा और धर्म्यभाषा के वाचनालय, पुस्तकालयों, समाचारपत्र और सुविचारपत्र आदि पत्रों का प्रसार होना चाहिए। राष्ट्र के उत्थान के लिये तत्परक साहित्यों का निर्माण भी होना चाहिए। जोकि उस राष्ट्र की भाषा में एवं धर्म के अनुकूल हो। इस प्रयास में न केवल उच्च वर्ग के लोगों को ही सम्मिलित करना चाहिए, प्रत्युत् ग्वालों को, किसानों को, पनिहारियों को भी प्रयत्न से राष्ट्र के ज्ञान में निपुण बनना चाहिए। एक राष्ट्र का उत्थान और पतन राष्ट्रीयों के ऊपर ही निर्भर होता है। इसलिये राष्ट्रीय सर्वदा शिक्षा सम्पन्न होने चाहिए। राष्ट्र के सम्पूर्ण बालकों को उनके ब्रह्मचर्य का पूर्ण संरक्षण करते हुए प्रयत्न से रणनीति में चतुर और अपना खून देकर के भी राष्ट्र का पोषण करने वाले, राष्ट्रभाषा तथा धर्म्य भाषा में कुशल और अर्थकोविद बनाया जाना चाहिए।

3. राष्ट्रीय

आचार्य का कहना है कि राष्ट्रीय को राष्ट्र के पुत्र के समान व्यवहार करना चाहिए, ताकि उसके पति के समान। पूर्व जन्म के थोड़े पुण्य के प्रभाव से स्वतन्त्र राष्ट्रीयों के कुल में जन्म होता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। यदि परन्त्र राष्ट्रीयों के कुल में उत्पन्न मानव आततायियों को दण्ड देने वाले हो तो वे और भी अधिक श्रेष्ठ हैं।

पर्वमाहात्म्य के विद्वान पुरूषों को उन-उन पर्वों में पर्व के सम्पूर्ण इतिहास को अपने राष्ट्रीयों को सुनाना चाहिए। इनका कहना है कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति का उपयोग अराष्ट्रीय के द्वारा न हो करके राष्ट्रीयों के द्वारा ही होना चाहिए। अतः प्रबुद्ध जनों को अराष्ट्रीयों को अपने राष्ट्र से निकाल बाहर उखाड़ फैंकने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग राष्ट्रीय ज्ञान सम्पन्न मनुष्यों का सहारा ले करके कार्यों को अच्छी प्रकार से करते हैं। उनका दुःखअवश्य ही नष्ट हो जाता हे। राष्ट्रीय ज्ञान से रहित और राष्ट्रीयों के साथ द्वेष करने वालों को गड्ढे में गिरना छोड़कर और कुछ भी लाभ नहीं होता अर्थात् ऐसे लोगों से हमें दूर रहना चाहिए। जिस राष्ट्र में राष्ट्रीय ज्ञान के शिक्षक विद्यमान नहीं है, वह राष्ट्र निर्विष साँप के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जो राष्ट्रीय पूर्णतया राष्ट्र की शिक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, तो वह इस लोक में और उस लोक (परलोक) में भी सौभाग्य प्राप्त करता है।[1] राष्ट्रीय पुरूष अराष्ट्रीयों को न्यायाधीश कभी न बनायें, क्योंकि राष्ट्र में उनका ममत्व न होने के कारण वे धन का अपहरण कर सकते हैं।[2]

4. गुप्तचर एवं राष्ट्रकोष

इनके अनुसार किसी प्रकार की आन्तरिक अथवा बाह्य कठिनाई से बचने के लिये राष्ट्र के लोगों को सब स्थानों में गुप्तचर, राष्ट्रसेवक स्थापित करने चाहिए। वे गुप्तचर शुद्धचरित्र, राष्ट्रीय, नानावेश, राष्ट्रशिक्षित, अभृत्य हो और वे सब प्रकार से सज्जन भी होने चाहिए। उनको अतिशीघ्रता पूर्वक सन्देश पहुंचाने एवं आवागमन जैसी सुविधाओं को आधुनिक बनाने के लिये भी विशेष ध्यान देना चाहिए। ताकि

1. सदाऽऽचरन्तःकार्याणि राष्ट्रशिक्षाञ्जनाऽञ्जिताः।
इहाऽमुत्र च सौभाग्यं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः।। -रा.आ., श्लो.- 17

2. अराष्ट्रियाः प्राड्विवाका न कार्या जातु राष्ट्रियैः।
तेषां राष्ट्रे निर्ममत्वाद् भवन्ति धनहारिणः।। -तदेव, श्लो.-78

अवसर आने पर इन सदुपयोग से किसी भी प्रकार की आपधा से निपटने के लिए यथासमय कार्य हो सके। इनके लिये सुगम, निर्भय और दृढ़सेतु वाले मार्ग बनाने चाहिए एवं जल, स्थल तथा आकाश में चलने वाले यानों का निर्माण भी किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार से आचार्य ने राष्ट्रकोष की महत्ता पर बल देते हुए कहा है कि इसकी स्थापना अति आवश्यक है। आचार्य का यह दृष्टिकोण वर्तमान समाज के लिये बहुत ही उपयोग है, क्योंकि अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भाड़, भूचाल अथवा अन्य किसी भी प्रकार की प्राकृतिक आपधाओं से निपटने के लिए अन्न अथवा धन की कमी महसूस न हो। देशवासियों की या पीड़ित जनता की यथासमय उचित सहायता की जा सके। यही नहीं, इस राष्ट्रकोष के उपयोग के लिये भी सच्चचरित्र एवं योग्य व अनुभवी पुरूषों द्वारा इसकी स्थापना, संरक्षण और खर्च के लिये नियम भी तैयार किये जाने चाहिए। ताकि इसका दुरुपयोग न हो।

5. नेता

आचार्य अमृतवाग्भव के अनुसार राष्ट्र नेता को अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्रों का तात्त्विक दृष्टि से अच्छी प्रकार से अभ्यास होना चाहिए। राष्ट्र नेता को राष्ट्रभाषा और धर्मग्रन्थों का विशेष रूप से सम्यक् अभ्यास भी होना चाहिए। राष्ट्र नेता वही कहलाने का अधिकारी होता है, जो मातृभूमि का तन-मन से सेवक हो, पालक हो, रक्षक हो और पुत्र के समान उससे प्यार रखता हो। जो केवल इसका उपभोगकर्त्ता है और प्रजा का ध्यान नहीं रखता, वह कदापि इसके योग्य नहीं होता। जो नेता खादी पहने हुए परन्तु दिल में कपट भाव लिये हुए अपना अथवा अपने सम्बन्धियों का स्वार्थ साधन करते हुए देश का ढोंग बहुत प्रकार से करते है वह नेता वास्तव में राष्ट्र का अकल्याण ही करते हैं।

बहुत से नेता अंग्रेजों के गौरवर्ण की तरह एवं उन शिक्षा-दीक्षा में पले सफेद कपड़े (खादी) पहने अन्दर से काले दिल वाले हमारे तथाकथित ढोंगी सौभ्य आकृति बनाये हुए भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार करने का प्रदर्शन करते हैं, परन्तु वास्तव में कोयल की तरह दूसरों से अपना पोषण करवाते हुए भारतीय संस्कृति का एवं जनता का अहित ही करते हैं।

वर्तमान काल के तथाकथित नेता जनता के धन का अपनी मर्ज़ी से दुरुपयोग करते हैं, जबकि चुने जाने के समय वह राष्ट्र को एकदम खुशहाल करने की बात करते हैं। इनका व्यापार लगभग कपटी बिलाव जैसा ही है, जो अवसर मिलते ही चूहे को जकड़ लेता है अतः ऐसे नेताओं के होते हुए तो देश का विनाश होता ही है।

आचार्य वर्तमान संसद सदस्यों पर कटाक्ष करते हुए कहते है कि अनीतिपूर्वक (छल से, कपट से, बल
से) अपना चयन करवा लेते हैं और फिर अपने आप को माननीय सदस्य कहलवाने लगते हैं। परन्तु इस
उपाधि को धारण करके वे कोई नैतिक काम नहीं करते, अपितु अनैतिक काम से पेट-पूजा करते हैं। अपनी
ओर से लोग कल्याण करने का प्रचार करते हैं लेकिन वास्तव में उनका अहित ही करते हैं। जनता को ऐसे
ढोंगी नेताओं से सर्वथा सावधान रहना चाहिए।

6. स्वराज

आचार्य के अनुसार स्वतन्त्रता सभी का जन्मसिद्ध अधिकार है। पर राष्ट्र का सम्बन्ध, सेना और कोष सब
प्रकार से जिस राष्ट्र में राष्ट्रीयों के हाथ में होता है, वह राष्ट्र स्वतन्त्र है, जिन राष्ट्रों में ये तीनों वस्तुएं
स्वतन्त्र होती हैं, वे ही राष्ट्र राष्ट्रों की गणना में आते हैं और महान यश प्राप्त करते है, यदि स्वराष्ट्र
स्वतन्त्र हो तभी चारों पुरूषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को देने वाला होता है अन्यथा (परतन्त्र होने
पर) वह मंगल देने वाला नहीं होता, प्रत्युत अमंगल देने वाला ही होता है।[1]

7. संक्रान्ति एवं दरिद्रता

आचार्य का कहना है कि हमें हमेशा संक्रान्ति अर्थात् श्रेष्ठ क्रान्ति का आदर करना चाहिए। क्योंकि
हमें ऐसी शान्ति नहीं चाहिए जो राष्ट्र को परतन्त्र बनाये। यही क्रान्ति जो है, वह आततायियों को दण्ड देने
वाली और दोनों लोगों में कल्याण प्राप्त करने वाली होती है। जगत् में केवल संक्रान्ति सब प्रकार की
बुराईयों को नष्ट करने में समर्थ है। अतः सत्पुरूषों को श्रेष्ठ विमर्श प्रज्ञान में तीव्र बुद्धि, शुभ
कल्याणकारी-नीति के पुनः-पुनः प्रचारार्थ भगवती संक्रान्ति का ही सहारा लेना चाहिए।[2] विश्व में सभी
कामनाओं की पूर्ति और सर्व सम्पदाओं की रक्षा भी इसी के द्वारा ही हो सकती हैं। मानव हृदयाकाश में
इसके उदित होते ही समस्त सारे भय आपे-आप ही तिरोहित हो जाते हैं। विश्व में जितने भी प्रकार के
दुःख है, उन सब को उत्पन्न करने में दरिद्रता ही एकमात्र मूल कारण है। ऐसा कोई भी दुःख नहीं जो दरिद्र
को न सताएँ। संक्रान्ति के सामने वह दारिद्रय भी टिक नहीं सकता। अतः सभी प्रकार के सुख भोगने के
लिये हमें संक्रान्ति का ही सहारा लेना चाहिए।

1. पुमर्थसाधनं तद्वत् पुमर्थफलदायकम्।
यदि स्वतन्त्रं स्वं राष्ट्रं नाऽन्यथा मङ्गलप्रदम्।। -रा.अ., श्लो.-6
2. सन्नीतिप्रथनपरम्पराविमर्श प्रज्ञानप्रवरधियां सतां घुरीणाः।
संसारं सुखयितुमेतमारभन्ते संक्रान्ति कलिमतखण्डनीवरेण्याम्।। -सं.पं., श्लो.-14

आचार्य का कहना है कि क्रान्ति जो है वह दुष्ट अर्थात् अशान्ति देने वाली है। यह दोनों लोगों का अर्थात् लोक और परलोक का नाश करने वाली है। जो लोग श्रेष्ठ क्रान्ति का सहारा न लेकर के किंक्रान्ति अथवा दुष्ट क्रान्ति का सहारा लेते है उनका कभी भी कल्याण नही हो सकता।

आचार्य की इस प्रकार से संक्रान्ति एवं किंक्रान्ति के सम्बन्ध में कही गई धारणा आज के आतंकमय वातावरण में और भी स्पष्ट मार्ग का प्रदर्शन करवाती है। उनकी इस धारणा का पूर्ण रूप से पालन करने से विश्व का परम कल्याण हो सकता है। आज के युग में आए दिन तथाकथित नेताओं के निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिये तथाकथित हड़तालें, आन्दोलन बन्द होते रहते हैं। जिनके पीछे उनकी कोई राजनीतिक कमी की पूर्ति तथा दूसरी ओर जनता का शोषण छिपा रहता है, इससे किसी भी राष्ट्र का कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु इसके विपरीत आचार्य द्वारा बतलाई हुई संक्रान्ति अर्थात् राष्ट्र एवं सबके कल्याण के लिये किये जाने वाले शुभ कर्म रूपी आन्दोलन ही में सबका श्रेय है।

ख) शिक्षा विषयक विचार

आचार्य ने शिक्षा के सम्बन्ध में अति महत्वपूर्ण दिशा निर्देश प्रधान किए है। जिनको क्रियात्मिक रूप देने से देश, समाज एवं मानवमात्र का कल्याण हो सकता है। सर्वप्रथम इनका कथन है कि शिक्षा शास्त्रीय होनी चाहिए। क्योंकि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विषय में शास्त्र का मत ही निर्णायक हो सकता है। इसलिये शास्त्रीय शिक्षा के बिना व्यक्ति अन्धकार के गर्त में पड़ा रहता है। इनका मानना है कि समाज में किसी पर दायित्व के निर्वाह के लिये शिक्षा ही योग्यता का मापदण्ड माना जाना चाहिए। इसलिये देश के नागरिकों को भली प्रकार सुशिक्षित बनना चाहिए, ताकि वे एक अच्छे समाज के निर्माता बन सकें तथा देश के सुयोग्य शासक अथवा नेता बन सकें।

यह शिक्षा सदाचार एवं नैतिक मूल्यों से ओतप्रोत होनी चाहिए, ताकि इसके अध्येता स्वावलम्बी एवं निस्वार्थी व्यक्तित्व वाले बन सके। क्योंकि ऐसे व्यक्ति ही समाज एवं देश का भला कर सकते हैं।

आचार्य ने शैक्षिक स्थान एवं शिक्षा पद्धति के विषय में भी प्रकाश डालते हुए कहा है कि शिक्षा संस्थान प्राचीन गुरूकुलों की भान्ति ही होनी चाहिए। अर्थात् वर्तमान शहरों के दूषित पानी, हवा ध्वनि इत्यादि के वातावरण से दूर शान्त एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण वन स्थलों इत्यादि में होनी चाहिए। इनका यह भी मानना है कि शिक्षा देते समय देश, काल, वातावरण, वर्ण, आश्रम, जाति इत्यादि का भी

विचार किया जाना चाहिए। ताकि अध्येता की मानसिक क्षमता एवं रूचि के अनुसार ही उसको शिक्षा मिल सके। वर्तमान शिक्षा पद्धति की अपेक्षा प्राचीन वैदिक परम्परा वाली शिक्षा पद्धति ही उनके अनुसार लोक कल्याणकारी हो सकती है।

राष्ट्रीयों को रणकौशल सिखाने के लिए गाँव-गाँव में प्रयत्नपूर्वक महान विद्यालय स्थापित करने चाहिए। गुरूओं को शिष्यों को राष्ट्रभाषा और धर्म्यभाषा का ज्ञान करवाना चाहिए। बालिकाओं को गृह विषयक धन्धों में प्रवीणता के साथ-साथ अन्य कार्यों में भी दक्ष बनाना चाहिए। यही नहीं, उन्हें राष्ट्र विषयक कार्यों की भी पूरी शिक्षा दी जानी चाहिए। बच्चों के अध्याापक स्त्रियाँ हो अथवा पुरूष, परन्तु वे वृद्ध और विशुद्ध चरित्र वाले होने चाहिये।

शिक्षित व्यक्ति सबकी उन्नति में अपनी उन्नति स्वीकार करते है जबकि अशिक्षित व्यक्ति स्वयंपतनोन्मुख होते हैं और अपने अनुयायियों को भी पतन के गर्त में गिराते हैं। इनका कहना है कि सभी मानव अपनी मातृभाषा को सबसे पहले सीखे, तदनन्तर राष्ट्रभाषा का अभ्यास करे और फिर उसके पश्चात् धर्म ग्रन्थ भाषा एवं राष्ट्र का पोषण करने वाली अन्यान्य भाषाओं का अभ्यास करे। इन भाषाओं के अभ्यास में भी राष्ट्र भाषा का अध्ययन अधिक आवश्यक है।

ग) धार्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य

आचार्य के अनुसार एक सभ्य समाज का सभ्य नागरिक बनाना अतीव आवश्यक है। क्योंकि वह ही समय आने पर देश एवं समाज के लिये बड़े से बड़े त्याग कर सकता है। परन्तु उसकी अपेक्षा असमय व्यक्ति तरह-तरह के देश एवं समाज को गिराने वाले और मानवता को सताने वाले घिनौने कार्य करता है। राष्ट्र के प्रति द्रोह करने वाले आत्मघाती लोग ही निर्धनता एवं रोगों आदि से ग्रस्त होकर राष्ट्र के पतन का कारण बनते हैं।

आचार्य ने तथाकथित कपटी एवं साधुवेशधारी दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्तियों से सावधान रहने के लिये कहते हुए कहा है कि प्राचीन काल में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इत्यादि के मूल कारण बने हुए किसी एक योगविद् सज्जन पुरूष को ऋषि पदवी मुश्किल से मिलती थी, लेकिन आजकल अधर्मी लोग भी बिना किसी श्रेष्ठ आचरण से छल से ऋषि पदवी धारण कर लेते है। भोग विरक्त व्यक्ति ही योग की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। जो व्यक्ति स्त्री, सम्पत्ति, ज़मीन-जायदाद, ऐश्वर्य इत्यादि में लिप्त रहेगा,

तो उसका ध्यान उन विषयों में ही लगा रहेगा, तो ऐसी दशा में उसे परमात्म चिन्तन का ध्यान नहीं रहेगा। अतएव वे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं कर सकेगा। अतः ऐसे व्यक्ति का अनुसरण कभी नहीं करना चाहिए।

आचार्य के अनुसार पशुओं एवं मनुष्यों के उपयोग के लिये प्रत्येक गाँव में नहर, चारागाह भूमि, कुएँ, वन, तालाब, उपवन एवं व्यायामशाला की स्थापना भी होनी चाहिए। इनका यह भी कहना है कि व्यापार के कानून एवं नियम, शुल्क की योजना, मूल्य की स्थापना राष्ट्रीय को स्वयं ही करनी चाहिए। क्योंकि राष्ट्र में उनका अपना अधिकार होता है। आचार्य का यह दृष्टिकोण वर्तमान समाज में शासक वर्ग की मनमानी के विरुद्ध एक स्वच्छ क्रान्ति लाने वाला है। क्योंकि कठिन परिश्रम में रोज़ी-रोटी कमाने वाला किसान अथवा श्रमिक जब अपने खून-पसीने की कमाई से फसल तैयार करता है, तो यह उसको ही पता होता है कि उसका इसमें कितना खर्चा आया। एक उसने इसमें कितना श्रमदान किया है। एक असम्बन्धित उच्च अधिकारी को उसका मूल्य निर्धारित करने का क्या अनुभव होगा, वो अपनी मनमानी से कुछ भी कर सकता है। इसलिये आचार्य का कहना है कि प्रत्येक वर्ग को न्याय देने के लिये उनका नीति निर्माण में परामर्श लेना अति आवश्यक है।

जो भी राष्ट्रीय अन्धे, बहरे, पंगु, अशक्त और रोगी होते हैं। उन सब के रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध होना चाहिए, क्योंकि राष्ट्र में उनका भी अधिकार होता है। उनकी शक्ति के अनुसार उनसे भी कार्यों को कराना चाहिए और उनके योग्य अनेक प्रकार के शिल्प भी उनको सिखलाये जाने चाहिए, ताकि वे स्वात्म निर्भर बन सके। आचार्य ने भिक्षावृत्ति को समाज एवं देश के लिये कलंक मानते हुए उसका कड़ा विरोध किया है। आत्म विचार में लगे हुए, बुद्धिमान अभिमान से रहित एवं राष्ट्रसेवा में लगे हुए मानवों को छोड़कर भीख माँगकर खाने वालों को दण्ड दें। बिना परिश्रम किये ही माँगने मात्र से अपने पेट भर जाने से समाज दुर्लभ हो जाता है। समर्थ आदमी भी काम करने से परहेज करने लगता है। यह एक बहुत ही निन्दनीय बात होती है, अतः समर्थ आदमी को आत्मनिर्भर होना चाहिए और स्वयं परिश्रम करके अपने एवं समाज के लिये योगदान देना चाहिए

घ) आध्यात्मपरक शिक्षा

आचार्य ने आत्मा-परमात्मा, जगत् और मोक्ष के सम्बन्ध में अपने सारभूत अनुभवों को जगत् कल्याण के लिये अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है। जिनका अभिप्राय इस प्रकार से है :-

भारतीय अध्यातम चिन्तन में विविध प्रकार की विचारधारायें जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में उपलब्ध होती है। जिनमें से प्रमुख वेदान्त दर्शन इस (जगत्) को आकश पुष्प की तरह अथवा इन्द्रजाल की भान्ति मिथ्या मात्र मानता है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता मानता है।[1] दूसरी तरफ सांख्य योग, चार्वाक, न्याय-वैशेषिक इत्यादि इसकी यथार्थ सत्यता मानते हैं। परन्तु आचार्य ने शैव सिद्धान्त सम्मत परमेश्वर की शक्ति का विलास मात्र होने से जगत् की भी सत्यता बतलाई है। इससे आज के इस समाज एवं विश्व में एक स्पष्ट संकेत मिलता है कि जगत् से पलायन करने की आवश्यकता नहीं है अथवा इसको मिथ्या मात्र समझ कर इससे विमुख होने की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत् सांसारिक समस्त कार्यों कलापों को करते हुए इसमें उस परमसत्ता की सतत् अनुभूति करनी है, जिससे जगदानन्द की प्राप्ति होती है। स्पष्टतः आचार्य का ऐसा दृष्टिकोण साधारण जन के लिये भी मुक्ति का द्वार खोलने वाला है और बिना किसी प्रयास के मात्र अनुभूति अथवा मनन से सागर प्रधान करने वाला है, उसकी तुच्छ, हीन एवं निन्दित चिन्ताओं से मुक्ति दिलाने वाला है।

सभी प्राणी मुक्ति चाहते है। दुःख अथवा बन्धन को कोई भी अच्छा नहीं समझता। भारतीय इस दुःख अथवा बन्धन का कारण अज्ञान मानते हैं। शैव दार्शनिकों की शिव की दृष्टि से बन्धन स्वेच्छा से गृहीत है, किन्तु जब वह बन्धन ग्रहण कर पशु बन जाता है, तो पशु की दृष्टि से बन्धन वास्तविक हो जाता है। शिव के लिये बन्धन लीला है एवं पुनः बन्धन से मुक्ति पाना भी उसकी लीला का अंश है। किन्तु जीव के लिये यह लीला नहीं है। इससे मुक्ति पाने के लिये प्रयास करना भी काश्मीर शैव दार्शनिक आवश्यक मानते है। जीव कर्म करता है तथा कर्म के फलस्वरूप उत्पन्न सुख-दुःख को भागता हुआ बन्धन में और जकड़ता जाता है। इस बन्धन से मुक्ति उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति अपूर्ण ज्ञान अथवा सीमित दशा प्राप्त होने के कारणों को नष्ट करके ही हो सकती है। जिसके लिये जीव को प्रयास करना पड़ता है।

आचार्य के अनुसार मोक्ष पूर्णता की स्थिति है। मोक्ष में आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप स्वयं शिव हो जाता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा से इतर समझी जाने वाली वस्तुओं का परन्य हो जाता है। आत्मा से भिन्न जगत् आदि को मिथ्या मान लिया जाता है। शैव सिद्धों की भान्ति आचार्य मुक्ति की अवस्था में आत्मा से भिन्न समझी जाने वाली वस्तुओं का निषेध नहीं करते, प्रत्युत् उन्हें

1. "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्यः।" -उपनिषद

आत्मरूप ही मानते हैं। जगत् आदि वस्तुओं को अपने से भिन्न समझना ही बन्धन है तथा उन्हें अपने से अभिन्न समझना ही मोक्ष है।

आचार्य के अनुसार निग्रह में बन्ध की ओर अनुग्रह में मोक्ष की कल्पना की गई है। बन्ध अथवा भोग और मोक्ष अथवा त्याग वस्तुसत् नहीं। इनके अनुसार परमेश्वर की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष चेतना की शुद्धावस्था है। यह पूर्ण अहम् अथवा पूर्णाहन्ता की स्थिति है। मोक्ष शिवावस्था है। इसलिये इस स्थिति का विवेचन शब्दों मे अथवा वाणी द्वारा नही हो सकता। इनके मत में सांख्य द्वारा प्रतिपादित कैवल्य आंशिक मुक्ति है, असंगत एवं असम्भव है, अज्ञान की गाँठ खुल जाने पर अपनी पारमेश्वरी शक्ति का अभिव्यक्त हो जाना ही मुक्ति है। अपने स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है।

भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के अनुसार एक ही परमशिव (परमसत्ता) के ब्रह्म, सोम, भगवान्, कर्त्ता, पुरूष, परासंवित, स्वभाव, बुद्ध, जिन और गुरू इत्यादि नाम संज्ञित किये गये हैं। आचार्य के अनुसार नामों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्युत् सभी दर्शनों की अन्तिम भूमि उसकी आनन्दस्वरूपिणी विद्या समझ कर सर्वथा स्तुत्य है। वह परमेश किसी भी रूप से हो, किसी भी नाम से हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वह सभी नामों और रूपों तथा इनकी प्रवृत्तियों के निमित्तों, गुणों और क्रियाओं का एकरस निदानभूत है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी का मूल कारण वही है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव उसी से होता है।[1]

आचार्य ने काश्मीर अद्वैत शैव सम्मत ही एकमात्र परमशिव की यथार्थ सत्ता मानी है। वेदों में भगवान् शिव को शंकर, शम्भु, भयोभव, पशुपति, शिति, सोम, रूद्र एवं नीलग्रीव आदि विभिन्न नामों से उल्लेख हुआ है। शैव आगमों में इसे भैरव नाम से और इसकी शक्ति को भैरवी नाम से अभिहित किया गया है। शिव अनुभवकर्त्ता भी है और स्वयं अनुभूत पदार्थ भी है, क्योंकि वह अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभूत होने वाला जगत् दोनों है। शिव अनिर्वचनीय है, क्योंकि निर्गुण होने से शिव का निर्वचन नहीं हो सकता। शिव तीनों गुणों (सत्त्व, रजस, तमस) से परे निर्गुण निराकार है, मन-वाणी से आगम और अगोचर है। परमशिव को बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि बुद्धि की सीमा है, जबकि शिव असीम है।

1. सोमो वा पुरूषोऽपि वाऽथ-भगवान् कर्त्ताऽथ कर्माऽपि वा। बुद्धो
वाऽथ जिनोऽपि वा गुरूरथो हानिर्न काप्यत्र में तत्तद्दर्शनसिद्ध
भूरभिमताऽऽनन्दात्मिका पातु माम्।। -आ.वि., 2/24

आचार्य के अनुसार आत्मा अनिर्वचनीय तेज है, वह स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान है, अपने आप में ही स्वतन्त्र है, सुतृप्त है, अपने आप को ही करने वाली है, अपने आप को ही मानने वाली है। वह एकमात्र प्रकाशात्मक है, विमर्श के द्वारा स्वात्मविमर्शन करना उसका स्वरूप है, वह सततोदित, प्रशान्त एवं चित्तत्त्व है।[1] परमशिव सर्वदा, सर्वत: और सर्वथा असीम है, फिर वह सदा परिपूर्ण है। यह जो कुछभी आभासित होता है, चाहे प्रमाता के रूप में, चाहे प्रमेय के रूप में, चाहे प्रमाण के रूप में, वह सारे का सारा उस शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है।

आचार्य के परमसत्ता विषयक दृष्टिकोण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जगत् में नाना मतों, जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों एवं दार्शनिकों के मध्य ~~को लेकर~~ होने वाले मतभेदों को अच्छी प्रकार समझते थे और वे यह भी समझते थे कि प्राय: इस तत्त्व को लेकर कई सम्प्रदायों में क्रूर, मारपीट एवं कटु विरोध की स्थिति भी देखने को मिलती थी। वे इस घोर समस्या से जनता को उभारना चाहते थे, ताकि वह अज्ञान अथवा भ्रान्ति के कारण व्यर्थ नष्ट न होती रहे। इसलिये इनका कहना है कि जैसे प्रेमवश अपने पिता को कोई पिता, फादर, पापा, डैडी, अब्बू अथवा बापू इत्यादि नामों से पुकारता है और इन सम्बोधनों से पिता के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार परमसत्ता एक ही है और उसको किसी भी अपने रूचिकर नाम से अथवा रूप से जाना जा सकता है। अत: उसके नाम और रूप को लेकर के लड़ाई-झगड़ा किसलिए ? वह सार्वभौम सत्ता सबकी आत्मा है, सार है और सर्वत्र व्याप्त है। इनकी इस शिक्षा का अनुसरण करने से विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों में होने वाले झगड़े को मिटाया जा सकता है और विश्व एवं समाज में शान्ति का अनुभव किया जा सकता है।

1. प्रकाशमात्ररूपाय विमशर्भिवर्शरूपिणे।
नित्योदिताय शान्ताय नमो मह्यं शिवात्मने।। -प.शि.स्तो., श्लो.-6

ग्रन्थ-सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अमृतसूक्तिपञ्चाशिका	अमृतवाग्भवाचार्य	श्री पीठ, सैद्ध दर्शन, शोध संस्थान, जम्मू।	प्र० सं० 1953
2.	अमृत स्तोत्र संग्रह	-वही-	-वही-	प्र० सं० 1986
3.	अवधूताभिवादनम्	-वही-	-वही-	प्र० सं० 2010 वि.
4.	आत्मविलास	-वही-	एस०एन० मंगोत्रा, प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू।	दि० सं० 2039 वि.
5.	आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्री राधा कृष्ण, धार्मिक संस्थान दिल्ली।	प्र०सं० 2013 वि.
6.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	प्र०सं० 1910
7.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका	उप्पलदेव	काश्मीर संस्कृत सीरीज़, श्रीनगर।	प्र० सं० 1938
8.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	-वही-	-वही- 1918
9.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति-विमर्शिनी	-वही-	काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर।	-वही- 1938
10.	छान्दोन्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर।	प्र० सं० 1949
11.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	मोती लाल बनारसीदास वाराणसी।	-वही- 1928

12.	तन्त्रसार	-वही-	काश्मीर संस्कृत, ग्रन्थावली, श्रीनगर।	प्र० सं० 1928
13.	देब्याः स्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	धार्मिक संस्थान, जयपुर	प्र० सं० 1984
14.	देशिक दर्शनम्	-वही-	काश्मीर संस्कृत धार्मिक संस्थान।	प्र० सं० 1983
15.	नागानन्द नाटक	श्रीहर्ष	मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी।	-वही- 1928
16.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।	चतुर्थ सं० 1982
17.	पवननन्दनाष्टकम्	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण, धार्मिक संस्थान, दिल्ली।	प्र० सं० 1986
18.	परशिव प्रार्थना	-वही-	धार्मिक संस्थान हिमाचल-प्रदेश (नालागढ़)।	प्र० सं० 1982
19.	परमशिवस्तोत्रम्	-वही-	श्री पीठ, सैद्ध दर्शन, शोध संस्थान, जम्मू।	प्र० सं० 1984
20.	परशुरामस्तोत्रम्	-वही-	मार्तण्ड तीर्थ मट्टन, धार्मिक संस्थान, कश्मीर।	तृ० सं० 1957
21.	पर-शिवाष्टकम्	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली।	प्र० सं० 1986
22.	परात्रिंशिका	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर।	प्र० सं० 1963
23.	बालकं मां पाहि	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण, धार्मिक संस्थान, दिल्ली।	प्र० सं० 1986

24.	बालकृष्ण दशकम्	-वही-	-वही-	प्र० सं० 1987
25.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपूर।	-वही- 1949
26.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना, बिहार।	दि०सं० 1980 तृ० सं० 1977
27.	भगवद्गीता	महर्षि वेदव्यास	गीत प्रैस, गोरखपुर।	तृ० सं० 1902
28.	भास्करी	के०सी० पाण्डेय	सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, लखनऊ।	प्र० सं० 1938 द्वि० सं० 1954
29.	मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	राजपण्डित श्रीगोविन्द मिश्र, श्रीमदमृत-ग्रन्थमाला, कार्यालय : चौबुर्जा, भरतपुर। (राजस्थान)	प्र० सं० 2037 वि.
30.	मालिनीविजयतन्त्र	आगम	काश्मीर संस्कृत गन्थवाली, श्रीनगर।	प्र० सं० 1922
31.	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्द	-वही-	-वही- 1918
32.	महागुरू श्रीकृष्णस्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण, धार्मिक संस्थान दिल्ली।	प्र० सं० 1986
33.	महानुभवशक्तिस्तवः	-वही-	श्री पीठ, सैद दर्शन शोध संस्थान, जम्मू।	प्र० सं० 1984
34.	राष्ट्रालोकः	-वही-	श्री स्वाध्यायसदन् धार्मिक संस्था धर्मशाला।	प्र० सं० 1934 द्वि० सं० 1947 तृ० सं० 1949

35.	रामाश्वघाटीचतुष्टयम्	-वही-	विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण, धार्मिक संस्थान दिल्ली।	प्र० सं० 1987
36.	विशंतिकाशास्त्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	धार्मिक संस्थान, भरतपुर।	प्र० सं० 1951
37.	वस्तुस्थितिप्रकाश:	-वही-	श्री पीठ सैद्ध-दर्शन-शोध-संस्थान, जम्मू।	प्र० सं० 2040 वि.
38.	विज्ञान भैरव	शिवोपाध्याय	काश्मीर सांस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर।	1918
39.	वेदान्तसार	सदानन्द	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।	1983
40.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, मद्रास, पटना, वाराणसी	प्र. सं. 1928
41.	शिवदृष्टि	सोमानन्द	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र. सं. 1934
42.	शिव स्तोत्रावली	उत्पलदेव	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, मद्रास, पटना, वाराणसी	द्वि. सं. 1983
43.	षट्त्रिंशतट्त्त्संदोह	मुकुन्दराम	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र. सं. 1933
44.	सप्तपदी हृदयम्	अमृतवाग्भवाचार्य	राज पं. श्रीगोविन्दमिश्र चौबुर्जा, भरतपुर (राजस्थान)	द्वि. सं. 2019 वि.

45.	संजीवनी दर्शनम्	-वही-	-वही-	प्र. सं. 2020 वि.
46.	सङ्क्रान्ति पञ्चदशी	-वही-	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली मुजफ्फराबाद	प्र. सं. 1970
47.	सिद्धमहारहस्यम्	-वही-	श्रीपीठ सैद्ध-दर्शन शोध-संस्थान, जम्मू	प्र. सं. 2040 वि.
48.	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र. सं. 1941-1947
49.	स्वच्छन्दतन्त्र	क्षेमराज	-वही-	-वही-
50.	सौन्दर्यलहरी	शङ्कराचार्य	लोकसेवक प्रेस, मुंबई	1931
51.	त्रिगुणेश्वर-शिव -स्तोत्रम्	अमृतवाग्भवाचार्य	विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली	प्र. सं. 2022 वि.

अन्य सहायक ग्रन्थ सूची

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
52.	काश्मीर शैवदर्शन	डॉ. बलिज्जनाथ पण्डित	श्री रणवीर केन्द्रीय संस्थान विद्यापीठ जम्मू	प्र. सं.-1923
53.	कश्मीर शैवदर्शन और कामायनी	डॉ. भंवरलाल जोशी	नेशनल पबिल्क हाऊस दिल्ली	प्र. सं.-1969
54.	कश्मीर शैवदर्शन और मूल सिद्धान्त	डॉ. कैलाशपति मिश्र	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय	-वही-1982
55.	कश्मीर शैविज्म	जे. रुद्रया	निर्देशक प्रसरङ्गना गंगोत्री, मैसूर	-वही-1969

56.	शैविज्म	जे.सी. चेटरजी	कश्मीर संस्कृत सीरीज़ श्रीनगर	-वही-1935
57.	अभिनवगुप्त का एक ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अध्ययन	डॉ. के.सी. पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत वाराणसी	दि.सं.-1963
58.	आत्मविलास का एक अध्ययन	कुलभूषण शर्मा	अप्रकाशित	1990
59.	आनन्द भैरव	आगम	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	प्र.सं.-1918
60.	भारतीय दर्शन	कुंवरलाल जोशी	इतिहास विद्या प्रकाशन,	वृ. सं. 1980
61.	भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	-वही-	तृ.सं. 1978
62.	भारतीय दर्शन	रामकृष्ण आचार्य	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा	प्र. सं. 1966
63.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली	तृ.सं. 1976
64.	भारतीय दर्शन	जे.एन. सिन्हा	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	प्र.सं. 1978
65.	उत्पलदेव का काश्मीर शैवदर्शन को योगदान	डॉ. जगीर सिंह	अप्रकाशित	1985

56.	शैविज्म	जे.सी. चेटरजी	कश्मीर संस्कृत सीरीज़ श्रीनगर	-वही-1935
57.	अभिनवगुप्त का एक ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अध्ययन	डॉ. के.सी. पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत वाराणसी	दि.सं.-1963
58.	आत्मविलास का एक अध्ययन	कुलभूषण शर्मा	अप्रकाशित	1990
59.	आनन्द भैरव	आगम	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली	प्र.सं.-1918
60.	भारतीय दर्शन	कुंवरलाल जोशी	इतिहास विद्या प्रकाशन,	वृ. सं. 1980
61.	भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	-वही-	तृ.सं. 1978
62.	भारतीय दर्शन	रामकृष्ण आचार्य	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा	प्र. सं. 1966
63.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली	तृ.सं. 1976
64.	भारतीय दर्शन	जे.एन. सिन्हा	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	प्र.सं. 1978
65.	उत्पलदेव का काश्मीर शैवदर्शन को योगदान	डॉ. जगीर सिंह	अप्रकाशित	1985